विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रजत जयन्ती वर्ष

(जनवरी १९६३–दिसम्बर १९८७)
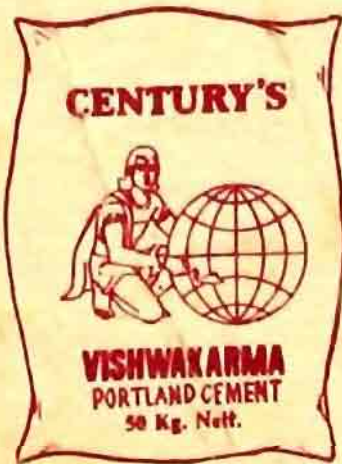
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम

निर्माता- सेन्चुरी सीमेन्ट

पो. आ. बैकुण्ठ -493116 जिला: रायपुर (म.प्र.)

टेलेक्स: 0775-225 CCBIN ★ टेलीग्राम: 'CENCEMENT'

फोन: 23, 24, 25, 27, 28, 30, 34, 39.

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

रजत जयन्ती वर्ष

१९६३-१९८७

जनवरी-फरवरी-मार्च

* १९८७ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

वर्ष २५
अंक १

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(७६ वीं तालिका)

(३० नवम्बर १९८६ तक)

२६५४. डॉ. भगवानदास, खण्डवा रोड, इन्दौर।
२६५५. श्री यशवन्त दाऊ चन्द्राकर, सम्बलपुर (रायपुर)।
२६५६. श्री रामलुभाया ऋषि, देवबंद, सहारनपुर (उ.प्र.)।
२६५७. श्री ब.ग. कठाळे, राजीव नगर, नागपुर।
२६५८. श्री चौधरी हरेन्द्रसिंह कौरव, इमलिया, नरसिंहपुर।
२६५९. श्री वी.के. जोशी, रायपुर।
२६६०. स्वामी प्रेमानन्द, प्रेमधाम, पन्ना (म.प्र.)।
२६६१. श्री जी.एस. साबले, भेल, भोपाल।
२६६२. श्री जी.एस.पंडागरे, जगदलपुर (बस्तर)।
२६६३. श्री बैजनाथप्रसाद चौधरी, टिकारी, (बैतूल)।
२६६४. श्री नारायण गुहा, उपयत्री, बैतूल।
२६६५. श्री शिवराजसिंह गहलोत, गाँधीनगर, बैतूल।
२६६६. श्री व्ही.जी. बोबडे, टिकारी, बैतूल।
२६६७. श्री सुरेशचन्द्र लड्ढा, स्वस्तिक टाइल्स, इन्दौर।
२६६८. श्री विनोदकुमार शर्मा, शर्मा स्वीट्स, इन्दौर।
२६६९. श्रीमती कमला अग्रवाल, बलौदा बाजार (रायपुर)।
२६७०. कु. नलिनी व्यंकटेश नागपुरकर, दादर, बम्बई।
२६७१. श्रीमती अर्चना शर्मा, भीलपारा, दुर्ग।
२६७२. श्रीमती आराधना शर्मा, माँझापारा, काँकेर (बस्तर)।
२६७३. डॉ. आर.डी. नगरिया, कवर्धा (राजनाँदगाँव)।
२६७४. श्री जी.एस.राव, केशवगंज वार्ड, सागर (म.प्र.)
२६७५. श्री जी.के. दत्ता, जयपुर (राजस्थान)।
२६७६. श्री दुर्गाप्रसाद अग्रवाल, चिरिमिरी (सरगुजा)।
२६७७. श्री रमेशकुमार मनवानी, देवीगंज, अम्बिकापुर।
२६७८. डॉ. लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, सनावद (खरगोन)।
२६७९. श्री मथुराप्रसाद गुमाश्ता, चर्चगेट, सी रोड, बम्बई।
२६८०. श्री एस.आर. वर्मा, रामकुंड, रायपुर।
२६८१. श्री रामानन्द गुप्ता, बिसवाँ, सीतापुर (उ.प्र.)।
२६८२. श्री गुरुमुखदास चावला, कन्देली, नरसिंहपुर।

२६८३. श्री जगदीशप्रसाद साहू, कन्देली, नरसिंहपुर।
२६८४. प्रधान पाठक, शा. पूर्व मा. शाला, बरबंदा (रायपुर)।
२६८५. श्री विजयकृष्ण त्रिवेदी, चित्रगुप्त रोड, नई दिल्ली।
२६८६. श्री भास्कर भाई ठाकर, जय इंजीनियरिंग वर्क्स, गोंदिया।
२६८७. डॉ. (श्रीमती) शैल पाण्डेय, टैगोर टाउन, इलाहाबाद।
२६८८. श्री ए. आर. पटेल, कंचनपुर, रायगढ़।
२६८९. श्री गुलाब यादव, तौंसीर (रायगढ़)।
२६९०. श्री धरणीधर नायक, तौंसीर (रायगढ़)।
२६९१. श्री एल.एन झा, करबला रोड, विलासपुर।
२६९२. श्री रामदास माखीजा, ईदगाहभाँठा, रायपुर।
२६९३. श्री शशांक किरवई, मलांजखंड, बालाघाट।
२६९४. श्री देवेन्द्रकुमार अग्रवाल, छतरपुर (म.प्र.)।
२६९५. श्री के.एम.आचार्य, चार इमली बँगला, भोपाल।
२६९६. श्री ए.डी.पाटील, कब्बडगली, बीड (महाराष्ट्र)।
२६९७. श्री चेतराम रहबर, हिसार (हरियाणा)।

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्यौरा

१. प्रकाशन का स्थान —रायपुर

२. प्रकाशन की नियतकालिता —त्रैमासिक

३-५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक—स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता —भारतीय

पता —रामकृष्ण मिशन, रायपुर

स्वत्वाधिकारी —रामकृष्ण मिशन, बेलुड़मठ

स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी स्मरणानन्द।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) **स्वामी आत्मानन्द**

अनुक्रमणिका

कवर चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रण स्थल : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर–४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २५] जनवरी-फरवरी-मार्च ★ १९८७ ★ [अंक १

वासना की प्रबलता

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं विशीर्णं शतखण्डमयी च कन्था
हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति ।।

—भिक्षा का नीरस अन्न, सो भी एक ही बार, भूमिशयन, परिजन के रूप में केवल अपना ही शरीर, कपड़े सो भी फटे हुए, कथड़ी वह भी सैकड़ों पैबन्दों की मैली-कुचैली ! दशा तो यह, किन्तु राम ! राम ! फिर भी विषयवासना से पिण्ड नहीं छूटता ।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्', १९

अग्नि-मन्त्र

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

लेक ल्यूकर्न, स्विट्ज़रलैण्ड,
२३ अगस्त, १८९६

प्रिय शशि,

आज रामदयाल बाबू का पत्र मुझे मिला, जिसमें वे लिखते हैं कि दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के वार्षिकोत्सव के दिन बहुत सी वेश्याएँ वहाँ आयी थीं, इसलिए बहुत से लोगों को वहाँ जाने की इच्छा कम होती है। इसके अतिरिक्त उनके विचार से पुरुषों के जाने के लिए एक दिन नियुक्त होना चाहिए और स्त्रियों के लिए दूसरा। इस विषय पर मेरा निर्णय यह है :

१. यदि वेश्याओं को दक्षिणेश्वर-जैसे महान् तीर्थ में जाने की अनुमति नहीं है, तब वे और कहाँ जायँ। ईश्वर विशेषकर पापियों के लिए प्रकट होते हैं, पुण्यवानों के लिए कम।

२. लिंग, जाति, धन, विद्या और इनके समान और बहुत-सी बातों के भेदभावों को, जो साक्षात् नरक के द्वार हैं, संसार में ही सीमाबद्ध रहने दो। यदि तीर्थों के पवित्र स्थानों में ये भेदभाव बने रहेंगे तो उनमें और नरक में क्या अन्तर रह जायगा ?

३. अपनी विशाल जगन्नाथपुरी है, जहाँ पापी और पुण्यात्मा, महात्मा और दुरात्मा, पुरुष, स्त्री और बालक—बिना किसी उम्र अथवा अवस्था के भेदभाव के—सबको समान अधिकार हैं। वर्ष में कम से कम

एक दिन के लिए सहस्रों स्त्री-पुरुष पाप और भेदभाव से छटकारा पाते हैं और परमात्मा का नाम सुनते और गाते हैं। यह स्वयं परम श्रेय है।

४. यदि तीर्थस्थान में भी एक दिन के लिए लोगों की पापप्रवृत्ति पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता, तब समझो कि दोष तुम्हारा है, उनका नहीं। आध्यात्मिकता की ऐसी शक्तिशाली लहर उठा दो कि उसके समीप जो भी आ जायँ, वे उसमें बह जायँ।

५. जो लोग मन्दिर में भी यह सोचते हैं कि यह वेश्या है, यह मनुष्य नीच जाति का है, दरिद्र है तथा यह मामूली आदमी है--ऐसे लोगों की संख्या (जिन्हें तुम सज्जन कहते) हो जितनी कम हो उतना ही अच्छा। क्या वे लोग, जो भक्तों की जाति, लिंग या व्यवसाय देखते हैं, हमारे प्रभु को समझ सकते हैं? मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि सैकडों वेश्याएँ आयें और 'उनके' चरणों में अपना सिर नवायें, और यदि एक भी सज्जन न आये तो भी कोई हानि नहीं। आओ वेश्याओ, आओ शराबियो, आओ चोरो, सब आओ--श्री प्रभु का द्वार सबके लिए खुला है।

'It is easier for a camel to pass through the eye of a needle than for a rich man to enter the Kingdom of God.' (धनवान् का ईश्वर के राज्य में प्रवेश करने की अपेक्षा ऊँट का सुई के छेद में घुसना सहज है।) कभी कोई ऐसे क्रूर और राक्षसी भावों को अपने मन में न आने दो।

६. परन्तु कुछ सामाजिक सावधानी की आवश्य-

कता है—हम यह कैसे रख सकते हैं? कुछ पुरुष (यदि वृद्ध हों तो अच्छा हो) पहरेदारी का भार दिन भर के लिए ले लें। वे उत्सव के स्थान में परिभ्रमण करें, और यदि वे किसी पुरुष अथवा स्त्री की बातचीत या आचरण में अशिष्ट व्यवहार पायें तो वे उन्हें तुरन्त ही उद्यान से निकाल दें। परन्तु जब तक शिष्ट स्त्री-पुरुषों के समान उनका आचरण रहे, तब तक वे भक्त हैं और आदरणीय हैं—चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, सच्चरित्र या दुश्चरित्र।

मैं इस समय स्विट्जरलैण्ड में भ्रमण कर रहा हूँ और प्रोफेसर डॉयसन से भेंट करने शीघ्र ही जर्मनी जानेवाला हूँ। वहाँ से मैं २३ या २४ सितम्बर तक इंग्लैण्ड लौटकर आऊँगा और आगामी जाड़े में तुम मुझे भारत में पाओगे। तुम्हें और सबको मेरा प्यार!

तुम्हारा,
विवेकानन्द

O

हर काम को तीन अवस्थाओं से गुजरना होता है—उपहास, विरोध और फिर स्वीकृति। जो मनुष्य अपने समय से आगे विचार करता है, लोग उसे निश्चय ही गलत समझते हैं। इसलिए विरोध और अत्याचार हम सहर्ष स्वीकार करते हैं; परन्तु मुझे दृढ़ और पवित्र होना चाहिए और भगवान् में अविचलित विश्वास रखना चाहिए। तब ये सब लुप्त हो जाएँगे।

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

पन्द्रहवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के वरिष्ठ उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता, द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

जन्मान्तरवाद और शास्त्र

दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में श्रीयुत विजयकृष्ण गोस्वामी श्रीरामकृष्ण के दर्शन करने के लिए आये हुए हैं। वे इस समय साधारण ब्राह्मसमाज में वेतनभोगी आचार्य हैं, इसलिए उन्हें ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों को मानकर चलना पड़ता है। स्वाधीन चिन्तन की गुंजाइश कम ही है। लेकिन उन्होंने अपने भीतर परम वैष्णव अद्वैत गोस्वामी का जो भाव उत्तराधिकार के रूप में पाया है, वह अब उनके अन्तःकरण में विकसित हो रहा है। उनकी उस भक्ति, उस प्रेम के ऊपर जो परदा पड़ा था, श्रीरामकृष्ण के संस्पर्श में आकर वह धीरे-धीरे हटता जा रहा है। वे ठाकुर के वचनामृत का आकण्ठ पान करते हैं और कभी-कभी हरिप्रेम में मतवाला होकर ठाकुर के साथ बालकवत् नृत्य करते हैं। बातचीत के बीच एक भक्त

बालक की बात उठी, जिसने गले में छूरी मारकर आत्म-हत्या कर ली। इस बात को सुनकर ठाकुर बोले, "ऐसा लगता है यह उसका अन्तिम जन्म था।" ठाकुर की यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है। जन्मान्तर के सम्बन्ध में ठाकुर साधारणतया किसी सिद्धान्त का प्रति-पादन नहीं करते थे। किसी के पूछने पर कहते, "ऐसा सुना है" अथवा कहते, "शास्त्र में है।" यहाँ कह रहे हैं, "पूर्वजन्म का संस्कार मानना पड़ता है।" यदि ऐसा न हो तो किसी किसी में जो बचपन से ही शुभ संस्कार देखा जाता है, वह कहाँ से आता है? उसने वह इस जीवन में तो अर्जित किया नहीं। अतएव कल्पना करनी होती है कि वह सब उसके पूर्वजन्म का अर्जित है। यहाँ पर दृष्टान्त के लिए एक कहानी बतला रहे हैं कि एक व्यक्ति जब शवसाधना करने बैठा, तो अनेक प्रकार की विभीषिकाएँ देखने लगा, अन्त में उसे बाघ पकड़कर ले गया। पर एक दूसरा व्यक्ति, जो बाघ के भय से झाड़ के ऊपर चढ़कर बैठा था, उतरकर आया और शवसाधना की सारी तैयारी देख शव के ऊपर बैठकर साधना करने लगा। थोड़ा-सा जप करते ही माँ-काली प्रसन्न हो गयीं और उसे दर्शन दिया। वह माँ से बोला, "माँ, तुम्हें पाने के लिए जिसने इतना आयोजन किया, उसका तो कुछ भी नहीं हुआ, पर मुझ पर, जिसने कुछ भी नहीं किया, तुम्हारी ऐसी कृपा हुई?" इस पर माँ बोलीं, "बेटा, तेरी यह साधना जन्म-जन्मातर से चली आ रही है, आज उसके पूर्ण होने पर तुझे मेरा दर्शन मिला।" तात्पर्य यह कि पूर्वजन्म के संस्कारों के साथ मनुष्य का जन्म होता है। एक ही जन्म सब कुछ नहीं है। यदि एक ही जन्म में सब कुछ समाप्त हो जाता,

तब तो 'कृतहानि अकृताभ्यागम'–रूप दोष होता—अर्थात् एक व्यक्ति ने अनेक शुभ कर्म किये लेकिन इस जन्म में उनका कोई फल नहीं देखा गया, पर दूसरा व्यक्ति बाल्य-काल से ही शुभ अथवा अशुभ कर्मफल का भोग करता है, जिसे उसने अर्जित नहीं किया है। 'अकृत' वह है जिसे उसने किया नहीं, पर उसका गुण या दोष आ गया। शास्त्रकार कहते हैं कि कर्मफल तनिक भी नष्ट नहीं होता, आगे के जन्मों में उसका भोग होता है। ठीक यही बात हम 'गीता' में पाते हैं। अर्जुन पूछता है कि यदि कोई साधना करते करते योगभ्रष्ट हो जाय अथवा सिद्धि के पूर्व ही उसकी मृत्य हो जाय, तब उसका क्या होता है? गीता कहती है कि उसने जो कुछ भी किया है, वह नष्ट नहीं होता—"न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति"—शुभ कर्म करनेवाले की कभी दुर्गति नहीं होती। अर्जुन का यह प्रश्न एक चिरन्तन प्रश्न है। 'योगाच्चलितमानसः' अर्थात् योग से किसी कारणवश जिसका मन हट गया हो, उसकी क्या अवस्था होगी? क्या वह फटे हुए बादलों की तरह दोनों ओर से भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाएगा? पहाड़ पर जिन्होंने मेघों का खेल देखा है, वे जानते हैं कि फटे हुए बादलों की तरह नष्ट होना क्या है। एक मेघखण्ड आकर पहाड़ से टकराया और टकराकर जब ऊपर उठा, तो उसका एक टुकड़ा शायद पहाड़ से ही चिपककर रह गया। वह टुकड़ा देखते ही देखते कुछ देर बाद गायब हो गया, अर्थात् न तो वह मेघों में ही स्थान पा सका और न ही पहाड़ में। तो क्या योगभ्रष्ट व्यक्ति इसी प्रकार इहकाल और परकाल दोनों से नष्ट हो जाएगा? शास्त्र का कहना है कि उसका कुछ

भी नष्ट नहीं होगा। इस जीवन में उसने जो कुछ किया है, वह उसके लिए आगामी जन्म में पाथेय बनेगा, जिसको लेकर वह आगामी जीवन प्रारम्भ करेगा। यही कारण है कि विभिन्न व्यक्ति विभिन्न संस्कार लेकर जन्म लेते हैं; किसी के भीतर जन्म से ही भगवत्प्रेम होता है और कोई मलिन मन लेकर जन्म लेता है। यह जो शुद्धता अथवा मलिनता है, उसे तो उसने इस जन्म में अर्जित नहीं किया है। इसलिए समझना होगा कि इसके पीछे पूर्वजन्मों का संस्कार रहता है। अतएव 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'—शुभ अथवा अशुभ जो भी कर्म किया गया है, उसका फल हम लोगों को भोगना ही पड़ेगा। यहाँ पर यह जो 'अवश्यं भोक्तव्यं' कहा है, उसे हम अपने इस जीवन में न देख पाने के कारण सोचते हैं कि हो सकता है आगामी जन्मों में भी उसका फल न मिले। अनेक दुराचारी व्यक्ति जीवन भर दुष्कर्म करके भी मरते दम तक शान-शौकत का जीवन बिताते देखे जाते हैं। वह सब देखकर हम सोचते हैं कि उनके दुष्कर्मों का तो कोई भी परिणाम दिखाई नहीं दिया ? शास्त्र कहता है कि मृत्यु के साथ साथ मात्र व्यक्ति के शरीर का परिवर्तन हुआ, किन्तु संस्कारों की पोटली तो ज्यों की त्यों रह गयी; परिणामस्वरूप किसी न किसी समय उसे अपने किये हुए कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा। इस प्रकार साधना की धारा आगामी जन्मों में भी चलती रहती है, भले ही व्यक्ति को उसका स्मरण नहीं रहता। तभी तो 'गीता' में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

> बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
> तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

—'तुम्हारे और मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं; मैं वह सब जानता हूँ लेकिन तुम नहीं जानते।' इस शास्त्र-वाक्य को श्रद्धापूर्वक मान लेने के सिवा हमारे पास परीक्षा करने का कोई उपाय नहीं है। 'कृतहानि अकृता-भ्यागम'-रूप युक्ति के द्वारा जन्मान्तरवाद सिद्ध कर लेने पर भी उस पर मनुष्य का विश्वास टिकता नहीं। फिर भी इस सम्बन्ध में ठाकुर का अभिप्राय यह है कि जो जीवन अभी तुम्हारे हाथ में है, उसका उप-योग करो, अगला या बाद का जन्म, जो पहुँच से बाहर है, के सम्बन्ध में दिमाग खपाने से क्या लाभ? जो जन्म तुहारे हाथ में है, उसका उपयोग करो, उसके पश्चात् यदि जन्मान्तर है तो उसका भी उप-योग होगा, और यदि नहीं है तो भी कुछ नष्ट होने-वाला नहीं है।

श्रीरामकृष्ण और बाइबिल का कथन

बाइबिल में एक कथा आती है। एक व्यक्ति ईसा से कहता है कि आप लेजारस को भेज दीजिए, उसके मुँह से जन्मान्तर होने की बात सुनकर लोग विश्वास करेंगे और धर्मपरायण होंगे। ईसा कहते हैं, "लेजा-रस के कहने से क्या वे लोग विश्वास कर लेंगे? अनेकों 'प्राफेट' (मसीहा) अवतीर्ण होकर क्या यह बात लोगों से नहीं कह गये हैं, फिर भी क्या लोगों ने उनकी बातों का विश्वास किया?"

ठाकुर की उपमा और व्याख्या

अच्छा, माना कि जन्मान्तर है। अब शास्त्रों का कथन है कि आत्महत्या महापाप है, और इस महापाप के फलस्वरूप मनुष्य को बार बार जन्म लेना पड़ता

है । इधर ठाकुर कह रहे हैं कि जो ज्ञानलाभ कर लेने के पश्चात् आत्महत्या करके शरीर त्यागता है, उसे यह पाप नहीं लगता। उपनिषद् में कहा गया है कि जो आत्महत्या करते हैं, वे एक दुःखमय अन्धकार स भरे लोक में जाते हैं, जिसे पुराण आदि 'नरक' कहकर पुकारते हैं । मनुष्य आत्महत्या कब करता है? तब, जब उसका शारीरिक या मानसिक क्लेश सहने की सीमा को पार कर जाता है । न सह सकने के कारण ही वह इस शरीर को सब दुःखों का मूल समझकर नष्ट कर देता है । अब यदि इस शरीर का नाश करके भी उसके दुःखों का अन्त न हो, तो इस शरीर का नाश करने में कोई सार्थकता नहीं है । इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं कि बार बार लौटकर आना होता है । अतएव आत्महत्या के बदले दृढ़तापूर्वक दुःख-कष्ट सहन करना ही उचित है । पर हाँ, ठाकुर कह रहे हैं कि जिनका इस शरीर का प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, उनको आत्महत्या करके शरीर के त्यागने में पाप नहीं लगता । ठाकुर एक दूसरे स्थान पर उपमा देते हुए कहते हैं कि कुआँ खोदते हुए जब जल का स्रोत मिल जाता है, तब कोई कोई कुआँ खोदने के कुदाल-फावड़ा आदि सारे औजार कुएँ में ही फेंक देते हैं । ठीक इसी प्रकार इस शरीर के द्वारा भगवान् को पा लेना ही हमारा उद्देश्य है । अब जिसने इस देह-मन के माध्यम से भगवान् को पा लिया, उसके लिए इस शरीर का और कोई प्रयोजन नहीं रह जाता । किन्तु भगवान् को पा लेने के बाद जिसके मन में लोक-कल्याण की कामना आती है, वह ताप-

तप्त मनुष्यों को उस अमृत की खोज देने के लिए, कुआँ खोद लेने के बाद कुदाल-फावड़ा आदि सुरक्षित रख देने के समान अपने शरीर को बचाकर रखता है। लेकिन भगवान् को पा लेने के पूर्व जो आत्म-हत्या करता है, उसके लिए यह बड़ी ही दुर्भाग्यजनक बात है, क्योंकि तब भी उसके द्वारा अपने शरीर से भग-वान् को पा लना सम्भव हो सकता था। इस सम्भावना के रहते हुए अपने शरीर को इस प्रकार नष्ट करना उसके लिए अनुचित है, हानिकारक है—यही समझाने के लिए ठाकुर कह रहे हैं कि शरीर के प्रति इतनी तुच्छ बुद्धि उचित नहीं है। यह शरीर भगवान् का मन्दिर है और इस मन्दिर में भगवान की प्रतिष्ठा करना ही हमारा उद्देश्य है। इसलिए उसे स्वस्थ, सुन्दर और सबल रखना होगा। जो यह नहीं करता, वह अपनी दुर्बलता का ही परिचय देता है। उसकी यही दुर्बलता उसको अधिकाधिक कष्टप्रद अवस्था में ले जाती है। इसी को ठाकुर कहते हैं—'बार बार लौटकर आना।'

यदि किसी के शरीर से हमारा पैर छू जाता है, तो हम उसे प्रणाम करते हैं। हम यह जो प्रणाम करते हैं, वह उस भगवान् को करते हैं जो इस देह-रूपी मन्दिर में वास करते हैं। बड़े-बूढ़ों से लेकर बालक तक सबको इसी दृष्टि से देखना होगा, क्योंकि सभी का शरीर भगवान् का मन्दिर है; अत-एव छोटे-बड़े का प्रश्न कहाँ है ? उन मन्दिरों में किसी के लिए विग्रह प्रकाशित है तो किसी के लिए अप्रकाशित। लेकिन सभी के लिए उस विग्रह के प्रका-शित होने की सम्भावना है। इसलिए जिस यंत्र के द्वारा

भगवान्-लाभ सम्भव हो, उसे तुच्छ नहीं समझना है, उसकी अवहेलना नहीं करनी है । इस दृष्टि से ही शास्त्र कहते हैं कि शरीर को नष्ट करना महापाप है । पाप और पुण्य की कसौटी यह है कि जो भगवान् की ओर ले जाने में सहायक हो, वह पुण्य है और जो मनुष्य को भगवान् से दूर ले जाय, वह पाप है ।

पुण्य कर्म की स्तुति

कभी कभी मनुष्य स्वर्ग जाने के लिए पुण्य करता है । एक तरह से यह भी मनुष्य के मन को शुद्ध करके भगवान् की ओर ले जाने में सहायक होता है । पर शास्त्र यह बतलाना नहीं भूलते कि स्वर्ग की ओर यह दृष्टि, स्वर्ग जाने का यह आकर्षण भी हमारे लिए बन्धनकारक हो जाता है । जैसे विपुल ऐश्वर्य के बीच रहने से मनुष्य भगवान् को भूल जाता है, उसी प्रकार स्वर्ग के ऐश्वर्य-भोग की ओर दृष्टि रहने से मन फिर भगवान् की ओर नहीं जाता । फिर भी स्वर्ग-प्राप्ति का साधनस्वरूप जो सब शुभ कर्म और उपासना आदि है, वह मनुष्य के मन को धीरे धीरे शुद्ध करता है तथा इस शुद्धता के परिणामस्वरूप वह भगवान् की ओर थोड़ा अग्रसर होता है । इसीलिए शास्त्रों में पुण्यकर्मों की इतनी प्रशंसा की गयी है । लोभी मनुष्य का मन भोग के लिए लालायित रहेगा ही, पर यह लालसा कहीं उसे देह-केन्द्रित बनाकर अधोगामी न कर दे इसलिए शास्त्र में कहा गया है कि यदि तुम शास्त्रनिर्दिष्ट पथ पर बढ़ोगे, तो उससे तुम्हारा भोग का उद्देश्य भी पूरा होगा । इस शास्त्र-निर्दिष्ट पथ पर चलने से व्यक्ति अनेक प्रकार के

संयम के बन्धन में बंध जाता है, जिससे फिर उसके लिए पशु के समान जीवनयापन सम्भव नहीं होता। इस प्रकार भोगलोलुप मनुष्य शास्त्रनिर्दिष्ट पथ पर चलकर स्वयं के न जानते हुए भी जो अपनी पशु-सुलभ वृत्ति पर थोड़ा सा अंकुश लगाने में समर्थ होता है, वह उसको चित्तशुद्धि के पथ में पहला कदम है। इसके पश्चात् क्रमशः और भी कुछ शुद्ध होने पर शास्त्र उससे कहते हैं—'उन सब लोकों की ओर दृष्टि न डालो। तुम निष्काम भाव से याग-यज्ञादि जो कुछ करते हो, करो;' या फिर कहते हैं—'भक्ति को ही सार समझकर उसे पाने की चेष्टा करो,' अथवा कहते हैं—'आत्मा को जानो।' ये सब बातें यदि आरम्भ में ही कही होतीं, तो उससे कोई लाभ न होता।

मानव की क्रमोन्नति

इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं, "जब कोई व्यक्ति पास आता है और देखता हूँ कि उसके भीतर प्रबल वासना है, तब उससे कहता हूँ—'खा लो, पहन लो,'" अर्थात् खाकर-पहनकर भोग कर लो। किन्तु साथ-साथ वे यह भी कहते, "पर जान रखो, यह सब कुछ भी नहीं है।" अर्थात् इसके द्वारा तुम लोगों का चरम उद्देश्य साधित नहीं होगा। यदि वे पहले ही भोग का निषेध कर देते, तो कोई सुनता नहीं। वे लोग सोचते हैं कि जब ठाकुर ने भोग करने के लिए कहा है, तब खाने-पहनने और भोग करने में बाधा कहाँ है? बाधा कहीं नहीं है। शास्त्र भी हमें बाधा नहीं देते। वे तो कहते हैं कि करो, लेकिन समझ लो कि 'निवृत्तिस्तु महाफला'—निवृत्ति ही सबसे बड़ा फल

है । भोग करना तो मनुष्य का स्वभाव है, वह बेचारा क्या करेगा ? मन चाहता है भोग । हम यदि कहें कि भोग मत करो, वह अनुचित है, तो वह सुनेगा नहीं । अतः उसे छोड़ देना पड़ता है, कहना पड़ता है कि थोड़ा भोग कर लो । लेकिन साथ-साथ वे ख्याल करा दे रहे हैं, "जान लो, यह सब कुछ नहीं है ।" विचारपूर्वक भोग करो । चारे में जब मछली फँसती है, तब वह धागे को खींचने लगती है । उस समय धागे को ढील दे देनी पड़ती है । पहले धागे को और ढील देकर, मछली के कुछ खा लेने के बाद, उसे खींचना पड़ता है, क्योंकि पहले ही धागा खींच लेने से धागा टूट जाएगा । इसलिए जो लोग प्रबल भोगपरायण होते, उन्हें ठाकुर भोग कर लेने के लिए कहते, लेकिन अन्त में यह भी कह देते —"लेकिन जान लो, कहीं कुछ नहीं है ।" सम्भव है यह अन्तिम बात तब उन लोगों को याद न रहती, केवल पहली बात ही याद रहती । किन्तु ऐसा समय भी आता है, जब स्मरण होता है कि ठाकुर ने अन्त में जाने क्या एक बात कही थी । उस शुभ मुहूर्त में ख्याल आता है—तभी तो ठाकुर ने कहा था कि 'कहीं कुछ नहीं है ।' इसीलिए हम शास्त्रों में भी देखते हैं कि वहाँ व्यक्ति के मन की आकांक्षा के अनुसार ही उसे उपदेश दिया गया है । जो पुत्र की कामना करता है, उसके लिए पुत्रेष्टि-यज्ञ का विधान है; जो विपुल अन्न उत्पादन करना चाहता है, उसके लिए 'कारीरी' यज्ञ का उपदेश दिया गया है; यहाँ तक कि जो शत्रु के विनाश के लिए व्याकुल है, उसको भी 'श्येन यज्ञ'

के द्वारा शत्रु-नाश का उपाय बताया गया है। वहिरंग दृष्टि से देखने पर लगेगा कि शास्त्र इस प्रकार के असत् कर्मों में भला हमें क्यों प्रवृत्त करते हैं? उत्तर यह है कि प्रवृत्त नहीं करते, मनुष्य स्वयं ही प्रवृत्त होता है। शास्त्र उसके भोगप्रवण मन को थोड़ा सा शास्त्रोन्मुखी करने की चेष्टा मात्र करते हैं। शास्त्र यदि केवल उच्चतम आदर्श की ही बात कहते, तब तो वह मुट्ठी भर लोगों के लिए ही होता और अधिकांश लोगों को शास्त्रधर्म छोड़कर ही चलना पड़ता। शास्त्रों ने हम सब लोगों की इस आवश्यकता को समझा है, और इसीलिए जिसका जैसा मन है उसके लिए तदनुरूप उपयोगी बनाकर उपदेश दिया है।

ईसा का उपदेश

एक भक्त ईसा के पास आकर बोला, "मैं भगवान् के पथ पर चलना चाहता हूँ, क्या करूँ?" ईसा ने उससे कहा, "तुम अमुक अमुक करो।" वह बोला, "मैं तो यह सब पहले से ही करते आ रहा हूँ। मैं अपनी आय का एक दशमांश दान करता हूँ तथा अन्य नियमों का भी पालन करता हूँ।" तब ईसा बोले, "Then leave all and follow me" (तो फिर सब छोड़कर मेरे साथ चलो)। यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि वे सबको अपने साथ चलने के लिए प्रारम्भ से नहीं कहते, क्योंकि वैसा करने से सब आएँगे भी नहीं, दो-चार लोग ही सम्भवतः उनकी पुकार सुनेंगे, बाकी सब तो अपने अपने रास्ते चलेंगे। इसीलिए उन्हें उन लोगों का रोग अच्छा करना होगा, मरे हुए को जिलाना होगा, जल के ऊपर पैर रखकर चलना

होगा । बाइबिल पढ़ने से लगेगा कि सारा का सारा चमत्कारों से भरा है । तो क्या ईसामसीह को और कोई काम नहीं था, जो इस प्रकार बाजीगर की तरह चमत्कार दिखाते हुए घूमते रहते थे ? उनके यह सब करने का कारण यह था कि वे देखना चाहते थे कि जिनके लिए उनका आगमन हुआ है, वे लोग उन्हें किस प्रकार जान सकेंगे, कैसे उनका अनुसरण कर सकेंगे, कहाँ तक चल सकेंगे ।

उपदेश का वैचित्र्य

इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं—जो जैसा है, उसे वैसा ही उपदेश देना होगा । हमारे शास्त्र ठीक ऐसा ही करते हैं । फिर भी जब हम बुद्धि की सहायता से शास्त्र-विचार करते हैं, तब यह देखकर चकरा जाते हैं कि जिस शास्त्र में उच्चतम आध्यात्मिक तत्त्व की बातें हैं, उसी में फिर दूसरे स्थान पर अत्यन्त निम्न स्तर के नियम-आचार भी हैं । इसका कारण यह है कि समाज ही इस प्रकार का है । इस समाज में ही कितने प्रकार के लोग हैं । इस विचित्रता के कारण ही उपदेश में भी विचित्रता आवश्यक हो जाती है । जो जहाँ पर है, उसे वहीं से एक एक कदम आगे बढ़ाना होगा । इसीलिए हम देखते हैं कि वेद आदि शास्त्रों में जहाँ एक ओर चरम लक्ष्य की बातें हैं, वहीं दूसरी ओर अत्यन्त अनुन्नत लोगों के ग्रहण करने योग्य उपदेश भी हैं । फिर, दूसरे प्रकार के ये उपदेश ही अधिक हैं, क्योंकि संख्या तो इन्हीं लोगों की अधिक है । इस बात को सामने रखकर शास्त्र को समझना होगा ।

अब यह जो आत्महत्या है, देह को नष्ट कर लेना

है, यह जनसाधारण के लिए अत्यन्त अनुचित बात है, क्योंकि उस देह के द्वारा तब भी जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है। लेकिन भगवान् को प्राप्त कर लेने के बाद शरीर का फिर कोई प्रयोजन नहीं रह जाता; तब वह रहे या न रहे, इससे कुछ आता-जाता नहीं। यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि कम से कम दूसरे के कल्याण के लिए तो शरीर का रखना उचित है ? इसका उत्तर यह है कि कल्याण करने की आकांक्षा सभी के मन में नहीं रहती, और उसकी आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि तब साधक सबके भीतर उस एक ईश्वर को ही देखता है, फिर कौन किससे कहे ? जिस भूमिका पर उठने से इस प्रकार का अनुभव होता है, वहाँ रहकर उपदेश देना फिर बनता नहीं। लेकिन ठाकुर कहते हैं कि किसी के भीतर भगवान् कुछ 'विद्या का अहं' रख देते हैं।

एक स्थान पर ठाकुर कह रहे हैं, "अच्छा, मेरे अहंकार है क्या ?" मास्टर महाशय उत्तर में कहते हैं, "जी, आपने लोककल्याण के लिए थोड़ा सा रखा है—लोगों को आत्मज्ञान, भगवान् की बात सुनाने के लिए।" इस पर ठाकुर बोले, "नहीं, मैंने नहीं रखा है, उन्होंने ही रख दिया है।" यह विशेष रूप से मनन करने योग्य बात है। जो उनके हाथ का यंत्र है, उसे वे रख भी सकते हैं और आवश्यकता न होने पर छोड़ भी सकते हैं। जब मेरा प्रयोजन सध जाएगा, तब शरीर बना रहेगा या नष्ट होगा यह अपने प्रयोजन के अनुसार वे ही समझेंगे। अतः जो भगवान को प्राप्त कर चुके हैं, वे अपने तईं यह निर्णय लेने की आवश्यकता नहीं समझते

कि उनका शरीर रहेगा या जाएगा। जो इसके पीछे सर्वनियन्ता विद्यमान हैं, उनकी इच्छा के अनुसार जो होना है होगा। जो व्यक्ति पूर्णकाम हो गया, उसे फिर इन सब बातों का विचार नहीं रह जाता।

○

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन (८)

बाँह में चोट आने के काल में

स्वामी योगेशानन्द

(लेखक अमेरिकन हैं और विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो में कार्यरत हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन में घटे दिव्य अनुभवों का सुन्दर संकलन किया है, जो रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा 'The Visions of Sri Ramakrishna' के नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक की अनुमति से यह अनुवाद हिन्दी पाठकों के लाभार्थ रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है।—स०)

श्री महेन्द्रनाथ गुप्त जो भक्तमण्डली में 'म' के नाम से सुपरिचित हैं, उद्यानों में रुचि होने के कारण २६ फरवरी, १८८२ ई. को अपने एक मित्र के साथ दक्षिणेश्वर आये और पहली बार श्रीरामकृष्ण का दर्शन किया। 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' नामक अनुपम ग्रन्थ के लिए हम वस्तुत: इन्हीं के, जिन्हें आल्डस हक्सले ने 'बोस्वेल' * कहा है, ऋणी हैं। यह ग्रन्थ दक्षिणेश्वर में हुए मनोमुग्धकारी दैनिक वार्तालापों का संकलन है। उस ग्रन्थ के प्राय: प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसे वर्णन उपलब्ध हैं, जिनसे पता चलता है कि श्रीरामकृष्ण के भावावेश तथा उनकी समाधियाँ दूसरों की दृष्टि में कैसी प्रतीत होती थीं; तुलना की दृष्टि से तथा चित्र के उस पक्ष को पूरा करने के लिए पाठकों को सुझाव दिया जाता है कि वे ऐसे वर्णन पढ़ें। इस काल से हुए उनके दर्शनों के आत्म-

---

* प्रसिद्ध अंग्रेज साहित्यकार सैमुएल जानसन के मित्र एवं जीवनी-लेखक। उनकी डायरी जीवनी-लेखन के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध है। (अनु०)

निष्ठ पक्ष का हमारा वर्णन ठाकुर की एक ऐसी सहज उक्ति के साथ प्रारम्भ होता है, जिसके द्वारा हमें पता चलता है कि भावावेश में उन्हें कैसा बोध होता था।

'म' के साथ गाड़ी में बैठकर वे कलकत्ते के विख्यात पण्डित और समाजसेवी विद्यासागर से मिलने जा रहे थे। 'म' ने श्रीरामकृष्ण को ब्राह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय का बँगला दिखाया। इस पर श्रीरामकृष्ण धीरज खोकर बोल उठे, "अब ये बातें अच्छी नहीं लगतीं"; और भावाविष्ट हो गये। स्पष्ट है कि मन की अन्तर्मुखी गति की तुलना में बाहरी दृश्य नगण्य हैं।

सम्भवत: वह इसी समय की बात है, जब सारदा देवी ने पहली बार इतने लम्बे समय तक दक्षिणेश्वर में निवास किया था। उस समय श्रीरामकृष्ण को एक ऐसा दर्शन प्राप्त हुआ, जो पाश्चात्य भक्तों के लिए सर्वाधिक आकर्षक तथा महत्त्वपूर्ण है। हम उसे स्वामी निखिलानन्द द्वारा रचित माताजी की जीवनी (Holy Mother) से उद्धृत करते हैं—"एक दिन श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर के अपने कमरे में गहन ध्यान में डूबे बैठे हुए थे कि सारदा देवी ने वहाँ प्रवेश किया। उस आगमन की आहट ने श्रीरामकृष्ण के मन को अचानक ही जागतिक धरातल पर ला दिया। उन्होंने बताया कि ध्यान में इस तरह का व्यवधान हानिकर हो सकता है। माताजी इस पर खेद प्रकट करने लगीं। उन्हें सान्त्वना प्रदान करने के निमित्त ठाकुर बोले, 'जब तुम कमरे में आयीं, उस समय जानती हो मैं क्या देख रहा था? मैंने देखा कि मैं एक अत्यन्त दूर देश में पहुँच गया हूँ, जहाँ के लोग गौर-

वर्ण के हैं। वे लोग हम लोगों से अलग प्रकार के थे और एक ऐसी भाषा बोल रहे थे, जो मेरी समझ के परे थी। मैं इस दर्शन को पाकर विस्मित हो सोच ही रहा था कि जगदम्बा ने मुझे बताया कि वे लोग मेरे उपदेशों का अनुसरण करेंगे। उनकी भक्ति कितनी सच्ची थी!"[१]

गोरे लोगों की भाषा के बारे में श्रीरामकृष्ण की यह उक्ति महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह इस दर्शन को अन्य अनेक स्वप्नों एवं मानसिक अनुभूतियों से स्पष्टतया अलग करती है, जिनमें स्वाभाविक रूप से भाषा की कोई समस्या नहीं आती। यह दर्शन हमें एक अन्य दर्शन का भी स्मरण दिला देता है, जो Spiritual Talks[२] (आध्यात्मिक वार्तालाप) पुस्तक के स्वामी प्रेमानन्द अध्याय में लिपिबद्ध है। इसकी तिथि का पता नहीं मिलता। रामलाल दादा (ठाकुर के भतीजे) मठ में आये हुए हैं और वार्तालाप के दौरान कहते हैं–"एक दिन उन्होंने (श्रीरामकृष्ण ने) मुझसे कहा, 'एक बार मुझे एक दर्शन हुआ था, जिसमें मैंने देखा कि बहुत से लोग तालियाँ

१. पृ० २८०। भगिनी देवमाता ने अपने 'Days in an Indian Monastery' (भारतीय मठ में मेरे दिन) नामक ग्रन्थ में(पृ० २३५) ठाकुर की भतीजी लक्ष्मी दीदी से यह घटना सुनकर यथावत् वर्णन किया है। दीदी ने बताया कि वे भी उक्त अवसर पर उपस्थित थीं (यदि वह उपर्युक्त अवसर ही रहा हो); ठाकुर उस समय इतनी गहरी समाधि में थे कि निर्जीव से प्रतीत हो रहे थे तथा उन्हें सामान्य भूमि पर लाने के लिए उनके पाँवों में मालिश करनी पड़ी थी। ठाकुर ने यह भी कहा था, "वह एक अत्यन्त मनोरम देश था; सोच रहा हूँ कि वहाँ जाऊँगा।"

२. अद्वैत आश्रम, संस्करण १९४४।

बजाते तथा 'जय काली' 'जय काली' बोलते हुए जगदम्बा के चारों ओर नृत्य कर रहे हैं और रानी रासमणि कमरे[३] के नैऋत्य कोने में खड़ी हैं। नाचनेवालों में मथुर, शम्भू, बलराम, जयगोपाल सेन तथा अन्य लोग थे और कुछ गोरे लोग भी थे, जिन्हें मैं अभी तक नहीं जानता।"

१८८२ ई. के अन्तिम दिन रविवार को जगदम्बा ने उन्हें बिनसिले गेरुआ कपड़े पहने दर्शन दिये और बातें भी कीं। परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि क्या बातें कीं।[४] यहाँ पर यह जानना रोचक होगा कि कौन कौन सी धार्मिक परम्पराओं के ईश्वर-दर्शन में बिनसिले वस्त्र दीख पड़ते हैं; ईसामसीह का भी बिनसिले श्वेत परिधान में दर्शन देने का उदाहरण है।

एक दिन ब्राह्मभक्त अमृत ने श्रीरामकृष्ण से पूछा था, "महाराज ! इस समाधि-अवस्था में आपको कैसा लगता है ?"

श्रीरामकृष्ण—"ऐसा कि मानो हण्डी की मछली को गंगा में छोड़ दिया गया हो।"

अमृत—"क्या जरा भी अहंकार नहीं रह जाता?"

श्रीरामकृष्ण—"हाँ, बहुधा मेरा कुछ अहंकार रह जाता है। सोने के टुकड़े को तुम चाहे जितना घिस डालो पर अन्त में एक छोटा सा कण बच रहता है। और जैसे कोई बड़ी भारी अग्निराशि है; उसकी एक जरा सी चिनगारी हो। बाह्यज्ञान चला जाता है, परन्तु प्रायः थोड़ासा अहंकार रह जाता है, शायद वे विलास के लिए

३. सम्भवतः उनका अपना ही कमरा।

४. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं., पृष्ठ २१२।

रख छोड़ते हैं। 'मैं' और 'तुम' इन दोनों के रहने ही से स्वाद मिलता है। कभी कभी इस 'अहं' को भी वे मिटा देते हैं। उसे 'जड़समाधि' या 'निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। तब क्या अवस्था होती है यह कहा नहीं जा सकता! नमक का पुतला समुद्र नापने गया था। ज्योंही समुद्र में उतरा कि गल गया। 'तदाकाराकारित'! अब लौटकर कौन बतलाये कि समुद्र कितना गहरा है!"[५] हमें ज्ञात है कि एक दिन एक दर्शन में जगदम्बा ने उन्हें समुद्र दिखाया था। ठाकुर एक नमक के पुतले के रूप में उसकी थाह लेने जा रहे थे, "परन्तु", उन्होंने बताया था, "थाह लेते समय श्रीगुरुकृपा से पत्थर बन गया। देखा एक जहाज आ रहा है, बस उमड़ पड़ा! —श्रीगुरुदेव कर्णधार थे।"[६] अब यहाँ पर हमें यह नहीं मालूम कि पहले उन्हें यह दर्शन मिला, जिसके फलस्वरूप उन्होंने नमक के पुतलेवाला दृष्टान्त गढ़ लिया, जिसका उपयोग वे बारम्बार करते थे; अथवा पहले उन्होंने यह दृष्टान्त सुना या गढ़ा और उस पर चिन्तन करते करते उन्हें वह दर्शन मिला। परन्तु यह जानकारी रोचक होगी। और इस दर्शन में यह बात भी कितनी आकर्षक है कि इसमें गुरु ने मानो उन्हें परब्रह्म में लीन हो जाने से बचाया! उन्होंने किस गुरु को देखा होगा? तोतापुरी को या ब्राह्मणी को? सम्भवत: वह कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व न रहा हो, क्योंकि श्रीरामकृष्ण 'म' से आगे कहते हैं—"सच्चिदानन्द गुरु को रोज प्रात:काल पुका-

५. वही, पृष्ठ २५७-५८।

६. वही, भाग २, पंचम सं., पृष्ठ ८।

रते हो न ?" जैसा कि प्रायः स्वप्न में हुआ करता है, उन्होंने सम्भवतः वैसा ही एक सामान्य सा रूप देखा होगा और बिना किसी विशिष्ट चिह्न के ही उन्हें 'श्रीगुरु' मान लिया। परन्तु उक्त विवरण अभी भी पूरा नहीं हुआ है—"फिर देखा, 'मैं' एक अलग है, 'तुम' एक अलग। फिर कूदा और मछली बन गया। देखा कि सच्चिदानन्द-समुद्र में आनन्दपूर्वक विचर रहा हूँ।... ये सब बड़ी ही गुह्य कथाएँ हैं।"

१८८३ ई. के अप्रैल में, एक अन्य रविवार के दिन, उनके भतीजे रामलाल ने वृन्दावन की गोपियों का अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग के भाव का एक गीत गाया, जिसे सुनकर श्रीरामकृष्ण गहन समाधि में डूब गये। उनके स्थिर मुखमण्डल से आनन्दाश्रु प्रवाहित होकर उनके जुड़े हुए हाथों पर टप-टप करके पड़ने लगे। काफ़ी देर बाद वे प्रकृतिस्थ हुए और फुसफुसाते हुए कुछ कहने लगे, जिनमें से कुछ शब्द ही भक्तों के कान में पड़े। वे कह रहे थे—"तुम्हीं मैं हो, मैं ही तुम हूँ।...दीन-बन्धु ! प्राणवल्लभ ! गोविन्द !" ये शब्द बोलते हुए वे पुनः समाधिमग्न हो गये और कमरा पुनः निस्तब्ध हो गया।[७]

हमने देखा, नरेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण को सावधान किया था कि मेरा बहुत अधिक ख्याल करने पर सम्भव है कि आपका मन ही पलट जाय। इस पर ठाकुर जगदम्बा के पास गये थे और एक अद्भुत उत्तर पाकर लौटे थे। उन दिनों मन्दिर के परिसर में ही प्रताप हाजरा नामक

७. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं., पृ. २७६।

एक सज्जन निवास किया करते थे। वे एक तरह से परोपजीवी थे और अधपचे आध्यात्मिक विचारों एवं साधनाओं से भरे थे। वे भी इस विषय में श्रीरामकृष्ण पर छींटाकशी करते और कहते कि युवा भक्तों का अधिक चिन्तन करने के कारण वे कहीं भगवान् को ही न भुला बैठें। एक दिन गाड़ी में बैठकर बलराम के घर जाते हुए ठाकुर इस विषय में अत्यन्त व्यग्र और चिन्तित हो उठे। क्षण भर में ही जगदम्बा ने उन्हें दिखा दिया कि वे स्वयं ही मनुष्यरूप में लीला करती हैं और यह भी बतलाया कि इन युवा भक्तों के समान शुद्ध आधारों में वे सर्वाधिक प्रकाशित होती हैं। इस दर्शन के पश्चात् जब उनकी समाधि टूटी, तो उन्हें अपने इस कष्ट के मूल कारण हाजरा पर बड़ा क्रोध आया, फिर उन्होंने मन ही मन सोचा—"उस बेचारे का अपराध ही क्या है; वह यह कैसे जान सकता है?"[८]

उन्होंने विभिन्न अवसरों पर कई तरह से बताया था कि ईश्वर ने स्वयं ही चेतन और अचेतन जीवों से युक्त इस ब्रह्माण्ड का रूप धारण किया है, और हम देखेंगे कि दिन पर दिन उनकी सामान्य चेतना के लिए यह तथ्य अधिकाधिक स्पष्ट होता गया कि जगदम्बा की सर्वोत्कृष्ट लीला मनुष्य के भीतर ही हो रही है। यह बात उनकी 'चिन्मय' अनुभूतियों में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। इनमें से कुछ का वर्णन तो पहले ही किया जा चुका है, यथा—बर्दवान के निकट चारागाह में हुआ वह दर्शन, जिसमें सब कुछ, यहाँ तक कि

८. वही, पृष्ठ ३२४।

चींटियाँ भी, उन्हें चैतन्य से परिपूर्ण दीख पड़ी थीं, और वह दिन, जब एक पेड़ की छाल को चोट पहुँचाने पर पूरा वृक्ष ही चैतन्यमय दीख पड़ा था; फिर पाठकों को ठाकुर के प्रथम बार जगदम्बा का दर्शन पाने की बात भी अवश्य ही याद होगी, जिसमें वे चेतना के सागर द्वारा अभिभूत हो गये थे। इसके अतिरिक्त और भी अनेक अनुभूतियाँ हैं। एक दिन वटवृक्ष के नीचे उन्हें अद्वैत, अखण्डचैतन्य की अनुभूति हुई और उन्होंने देखा कि मनुष्य, जीव-जन्तु तथा अन्य प्राणी सब उसी तत्त्व से बने हुए हैं—उनमें बाबू लोग हैं, अंग्रेज और मुसलमान हैं, वे स्वयं हैं, मेहतर है और कुत्ते हैं। क्या ही अद्भुत संकलन है! तदुपरान्त उन्होंने लम्बी दाढ़ीवाले एक मुसलमान को देखा, जो एक तश्तरी में भात लेकर आया था। तश्तरी में से मुसलमानों को खिलाने के बाद वह उन्हें भी कुछ दाने दे गया। यह एक रोचक तथ्य है कि दिव्य दर्शन के दौरान खाद्य पदार्थ का अग्रभाग दूसरों को देने के बावजूद ठाकुर उसे स्वीकार कर लेते हैं, जैसा कि जाग्रत् अवस्था में वे कदापि नहीं करते थे। वे कहते हैं कि जगदम्बा ने उन्हें वहाँ दिखाया कि एक के सिवा दो नहीं हैं। सच्चिदानन्द ही अनेक रूपों से विचर रहे हैं। जीव, जगत् सब वे ही हुए हैं। अन्न भी वे ही हुए हैं।[९] ऐसे ही एक अन्य समय उन्होंने देखा था कि उनके चारों ओर अन्न, व्यंजन, अन्य भोज्य पदार्थ तथा मल-मूत्र आदि पड़े हैं। "एकाएक जीवात्मा ने निकलकर आग की लौ की तरह सब चीजों को चखा, मानो जीभ हिलाते हुए सभी चीजों का एक

९. वही, पृष्ठ ४३४-३५; तथा भाग ३, तृतीय सं., पृष्ठ १०९।

बार स्वाद ले लिया, विष्ठा-मूत्र सब कुछ चखा। इससे दिखा दिया कि सब एक हैं—अभेद हैं।"[१०] एक बार उन्होंने किताबी पण्डित महिमा चक्रवर्ती से कहा था, "मुझे उसने दिखाया है; चित्-समुद्र है, उसका ओर-छोर नहीं है। उसी से ये सब लीलाएँ उठी हैं और फिर उसी में लीन हो गयी हैं। चिदाकाश में करोड़ों ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होकर वे फिर उसी में लीन हो गये हैं। तुम्हारी पुस्तक में क्या लिखा है, यह सब मैं नहीं जानता।"[११] (कोई-कोई इसमें सुदूरवर्ती अन्तरिक्ष में दीख पड़नेवाले नक्षत्र-मण्डलों की सृष्टि और विलय का संकेत देखते हैं)।

उन्हें अन्य अनुभूतियाँ भी हुईं। ॐ की सामान्य व्याख्या के साथ उन्होंने घण्टे की टंकार की उपमा का भी योग करते हुए बताया कि घण्टे का बजना मानो महा-समुद्र में एक वजनदार चीज का गिरना है। फिर तरंगों का उठना शुरू होता है; नित्य से लीला का आरम्भ होता है; महाकारण से स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर का उद्भव होता है; तुरीय से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये सब अवस्थाएँ आती हैं। फिर महासमुद्र की तरंग महासमुद्र में ही लीन हो जाती है। नित्य से लीला है और लीला से नित्य। फिर वे बोले, "मैंने यह सब यथार्थ रूप में देखा है।" उस दिन उन्होंने भक्तों को महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर से अपनी मुलाकात के बारे में भी बताया था। उनका आपसी सम्बन्ध रोचक होने के साथ ही उपयोगी भी था। ईश्वर के बारे में पूछे जाने पर देवेन्द्रनाथ ने कहा

१०. वही, भाग १, सप्तम सं., पृष्ठ ४३५।
११. वही, भाग २, पंचम सं., पृष्ठ ५४८-४९।

था, "यह संसार एक दीपक के पेड़ के समान है और प्रत्येक जीव इस पेड़ का एक एक दीपक है।" श्रीरामकृष्ण ने भक्तों को बताया, "मैं जब यहाँ (पंचवटी में) ध्यान करता था, तब बिल्कुल इसी तरह देखता था। देवेन्द्र की बात से मेल हुआ देखकर मैंने सोचा, तब तो यह बहुत बड़ा आदमी है।"[१२]

ईश्वर चिन्मय रूप में किस प्रकार दीख पड़ते हैं, इस विषय में श्रीरामकृष्ण के कुछ विवरण बड़े ही सजीव हैं। एक बार उन्होंने 'म' को बताया था—"ईश्वर के चैतन्य से जगत् चैतन्यमय है। कभी कभी देखता हूँ कि छोटी छोटी मछलियों में वही चैतन्य खेल रहा है। कभी कभी देखता हूँ कि वर्षा में जिस प्रकार पृथ्वी जल से ओतप्रोत रहती है, उसी प्रकार इस चैतन्य से जगत् ओतप्रोत है।[१३] एक दिन मैं फूल तोड़ रहा था। उसने दिखलाया पेड़ के फूल खिले हुए हैं जैसे सामने विराट्[१४] की पूजा हो रही हो—विराट् के सिर पर फूल के गुच्छे रखे हुए हों। फिर मैं फूल तोड़ न सका। वे आदमी होकर भी लीलाएँ कर रहे हैं। मैं तो साक्षात् नारायण को देखता हूँ।" फिर उनकी कुछ उक्तियाँ तो बिल्कुल ही जागतिक हैं—"योनि में ईश्वर का वास प्रत्यक्ष देखा था! —कुत्ता और कुतिया के समागम के समय देखा था।"[१५] एक अन्य दिन उन्होंने बताया कि जगदम्बा ने उन्हें

---

१२. वही, पृष्ठ ५४३।
१३. वही, भाग १, सप्तम सं., पृष्ठ ३८८-८९।
१४. इस लेखमाला के पाँचवें लेख में इस विषय पर विशद चर्चा हुई है, देखिए विवेक-ज्योति का जनवरी-मार्च, १९८६ ई. अंक।
१५. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं., पृष्ठ ३८८।

शिव और शक्ति का रमण दिखाया है—"चारों ओर शिव और शक्ति ! शिव और शक्ति का रमण ! मनुष्यों, जीव-जन्तुओं, वृक्षों और लताओं—सभी में वही शिव और शक्ति–पुरुष और प्रकृति—सर्वत्र इन्हीं का रमण। दूसरे दिन दिखाया कि नर-मुण्डों [१६] की राशि लगी हुई है ! — पर्वताकार—और कहीं कुछ नहीं ! उनके बीच में मैं अकेला बैठा हुआ हूँ।" [१७]

दूसरे शब्दों में, श्रीरामकृष्ण की सिद्धावस्था में उनके लिए प्रत्येक स्थान ही ईश्वर से ओतप्रोत था। एक बार झाऊतला से पंचवटी की ओर आते समय उनके पीछे एक कुत्ता भी आ रहा था। उनके मन में आया कि सम्भव है इस कुत्ते के माध्यम से ही जगन्माता कुछ कहें, अत: क्षण भर के लिए वे ठिठककर वहीं खड़े हो गये। अपनी तान्त्रिक साधना के दिनों में कभी-कभी वे एक कुत्ते पर बैठा करते थे तथा उसे खिलाकर उसका कुछ अंश स्वयं भी ग्रहण किया करते थे। उन्होंने बताया था कि इस प्रकार उन्हें बोध हुआ कि यह सम्पूर्ण विश्व एकमात्र ईश्वर से ही परिपूर्ण है।

अब हम पुन: अपने वर्णन की ओर लौट चलते हैं। श्रीरामकृष्ण केशव सेन से अन्तिम बार मिलने २८ नवम्बर, १८८३ ई. को कलकत्ते के उनके 'लिली काटेज' नामक भवन में गये, जहाँ वे कष्टदायक बीमारी के बीच जीवन के अन्तिम दिन बिता रहे थे। वह दृश्य तथा वार्तालाप 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के सर्वाधिक

१६. क्या उनका तात्पर्य खोपड़ियों से था ? इस दर्शन का तात्पर्य स्पष्ट नहीं किया गया है।

१७. 'वचनामृत', भाग २, पंचम सं., पृष्ठ ७।

भावपूर्ण और स्मरणीय अध्यायों में से एक है। ठाकुर उस दिन अत्युच्च भाव एवं अन्तर्मुखी अवस्था में थे और ज्योंही उन्हें विविध प्रकार से सजे हुए बैठकखाने में ले जाकर कोच पर बैठाया गया, वे अपना बाह्यज्ञान खो बैठे और किसी अदृश्य सत्ता से कहने लगे —"यह लो, माँ, आ गयीं! और अब बनारसी साड़ी पहनकर क्या दिखलाती हो! माँ, गोलमाल न करो, बैठो—बैठो भी।"[१८] क्या ही पागलपन है! माँ के अपने ही बच्चे को छोड़ दूसरा कौन इस तरह की बातें कर सकता है? बनारसी साड़ी भारतीय नारी का सर्वोत्तम पहनावा है; इसके माध्यम से सम्भवतः उनका प्रतीक-प्रेमी मन अप्रत्यक्ष रूप से उक्त बैठकखाने की अत्यधिक सजावट की ओर निर्देश करता है।

दो सप्ताह बाद उन्होंने 'म' को बताया कि एक दिन कीर्तन सुनते समय प्राप्त दर्शन में उन्होंने वृन्दावन की श्रीकृष्ण-मण्डली में राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) को देखा था।[१९] यह दर्शन राखाल के बारे में अब तक के लिपिबद्ध दर्शनों के अतिरिक्त जान पड़ता है और हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यहाँ जिस कीर्तन का उल्लेख किया गया है, वह थोड़ी देर पूर्व ही हुआ होगा। इसके बाद एक वर्ष के भीतर ही राखाल वृन्दावन की यात्रा पर गये तथा वहाँ कुछ काल निवास किया।

जनवरी १८८४ ई. क उत्तरार्ध म श्रीरामकृष्ण के जीवन में एक ऐसी घटना हुई, जिसके फलस्वरूप उन्हें

१८. वही, भाग १, सप्तम सं., पृष्ठ ५१४।
१९. वही, पृष्ठ ५४०।

शारीरिक दृष्टि से काफी पीड़ा हुई तथा वे इसके कारण के एवं अपनी आध्यात्मिक अवस्था के बारे में अटकलें लगाने को बाध्य हुए। घटना यूँ हुई——एक दिन भावावेश में वे अकेले ही झाऊतला की ओर जा रहे थे। गंगा के पास बने रेलिंग के पास पहुँचकर, भाव में अचानक वृद्धि हो जाने से वे सन्तुलन खोकर गिर पड़े, जिसके फलस्वरूप उनके बाँयें हाथ की हड्डी सरक गयी। इससे बाँयें हाथ में पट्टी बाँध दी गयी। जब वे समाधि में न होकर साधारण-भूमि पर रहा करते, तो उन्हें काफी पीड़ा होती थी। गिरने के समय श्रीरामकृष्ण को हुए दर्शन का विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है, पर यह निश्चित है कि उन्होंने अपने परमप्रिय श्रीकृष्ण को रेलिंग के निकट खड़े देखा था। बाद में उन्होंने 'म' को बताया था——"तुम्हें यह मैं गुह्य बात सुना रहा हूँ। पूर्ण और नरेन्द्र आदि को प्यार करता हूँ, इसका एक खास अर्थ है। जगन्नाथ को मधुरभाव में आकर भेंटने के लिए मैंने हाथ बढ़ाया नहीं कि गिरकर हाथ टूट गया। उसने समझा दिया——'तुमने शरीर धारण किया है इस समय नर-रूपों में ही सख्य, वात्सल्य आदि भावों को लेकर रहो'।"[२०] इस चोट के थोड़े दिनों बाद ही उन्होंने शिकायत के स्वर में जगदम्बा से कहा, "माँ! बड़ा दर्द हो रहा है!" तब उसने दिखाया, गाड़ी है और उसका इंजीनियर। गाड़ी के पुर्जे कहीं कहीं खुल गये हैं। इंजीनियर जैसा चलाता है, गाड़ी वैसे ही चल रही है। उसकी अपनी कोई शक्ति नहीं है।[२१]

२०. वही, भाग ३, तृतीय सं., पृष्ठ २३१।
२१. वही, भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ ४९।

अपने आध्यात्मिक भाव के बारे में उपर्युक्त झिड़की ही एकमात्र शिक्षा नहीं थी, जो श्रीरामकृष्ण ने इस दुर्घटना के फलस्वरूप प्राप्त की थी। इस प्रसंग में हम उनकी कुछ अन्य उक्तियाँ भी देखेंगे। फरवरी के अन्त में उन्होंने 'म' से कहा था––"इस हाथ के टूटने के बाद से एक बड़ी विचित्र अवस्था हो रही है। केवल नर-लीला अच्छी लगती है। नित्य और लीला। नित्य––अर्थात् वही अखण्ड सच्चिदानन्द। लीला––ईश्वर-लीला, देव-लीला, नर-लीला, संसार-लीला।" मार्च में उन्होंने भक्तों से पुनः कहा था कि हाथ में चोट लगने के फलस्वरूप उनका स्वभाव बदल रहा है––"अब मनुष्य में ईश्वर का अधिक प्रकाश दिखाई दे रहा है। मानो वे कह रहे हैं, मेरा मनुष्यों में वास है, तुम मनुष्यों के साथ आनन्द करो। वे शुद्ध भक्तों में अधिक प्रकट हैं––इसीलिए तो नरेन्द्र, राखाल आदि के लिए इतना व्याकुल होता हूँ।" अगले महीने वे फिर कहते हैं––"अब इस समय देख रहा हूँ, एक और अवस्था आ रही है। बहुत दिन हुए वैष्णवचरण ने कहा था, आदमी के भीतर जब ईश्वर के दर्शन होंगे, तब पूर्ण ज्ञान होगा। अब देख रहा हूँ, अनेक रूपों में वे ही विचरण कर रहे हैं। कभी साधु के रूप में, कभी छल-रूप में, और कभी खल-रूप में। इसीलिए कहता हूँ, साधुरूपी नारायण, छलरूपी नारायण, खलरूपी नारायण, लुच्चारूपी नारायण" महीने भर बाद मई में उन्होंने पुनः ऐसी ही बातें कहीं और 'म', अधर एवं अन्य लोगों से अपनी अनुभूतियों से सम्बन्धित गोपनीय बातें बताते हुए कहा कि आज-कल उन्हें ईश्वर के चिन्मय रूप में दर्शन नहीं होते; और

यद्यपि ईश्वर के रूप का दर्शन, स्पर्श तथा आलिंगन करना उनका स्वभाव था, तथापि ईश्वर अब उनके सम्मुख स्वयं को नर-रूपों में ही व्यक्त कर रहे हैं।

परन्तु हमें इन उक्तियों का पूर्णत: शाब्दिक अर्थ नहीं लेना चाहिए। इसके पूर्व ही श्रीरामकृष्ण ईश्वर का मानव के भीतर दर्शन कर चुके थे तथा जगत् भर में सर्वत्र जगदम्बा की उपस्थिति की अनुभूति भी उन्हें हो चुकी थी। अत: ऐसी बात नहीं कि यह अनुभूति उनके जीवन के अड़तालीस वर्ष में अचानक ही आ गयी हो। न ही इसका यह तात्पर्य है कि अब उनके दर्शन और भाव-समाधियों की इति हो गयी हो। अपने जीवन के अन्तिम दिन तक उन्हें और भी अनेक दर्शन होने को थे। ठाकुर बहुधा कहा करते थे—"भक्त सदा भक्त ही रहता है", और यह उक्ति उनके जीवन में पूर्णत: खरी उतरती है। जगदम्बा का रूप अपने इस शिशु को छोड़नेवाला नहीं था, परन्तु साथ ही यह बात भी नहीं थी कि अब उनका मन परब्रह्म, नित्य या अखण्ड सच्चिदानन्द में डूबने को प्रवृत्त नहीं होता था। सत्य तो यह था कि समाधि में जाने की प्रवृत्ति उनमें सदा ही बनी रही, और उनकी जीवनी के पाठक जानते हैं कि उनके जीवन के अन्तिम पर्व में यह प्रवृत्ति और भी बलवती हो उठी थी।

इस घटना के कई महीनों बाद श्रीरामकृष्ण ने अपने हाथ की चोट की एक और व्याख्या दी थी। उन्होंने 'म' को बताया था—"अच्छा, हाथ टूटने का क्या अर्थ है? पहले एक बार भावावस्था में दाँत टूट गया था। अबकी बार भावावस्था में हाथ टूट गया।"

'म' को चुपचाप बैठे देखकर श्रीरामकृष्ण आप ही आप कहने लगे—"हाथ टूटा सब अहंकार निर्मूल करने के लिए। अब भीतर 'मैं' कहीं खोजने पर भी नहीं मिलता। खोजने को जब जाता हूँ तो देखता हूँ वे हैं।" फिर भी जब उनका हाथ ठीक हो गया और जब तक उनका शरीर बना रहा, उनमें वे लक्षण जिन्हें वे 'अहंकार' कहा करते थे, दूसरों के सम्मुख अवश्य अभिव्यक्त होते थे तथा ये लक्षण ही उन्हें मानवीय ढाँचे में बनाकर रखे हुए थे। परन्तु यह भी उनके स्वयं के प्रयास का फल नहीं था, जैसा कि उसी वर्ष के अगस्त का उनका निम्नांकित वार्तालाप स्पष्ट कर देता है। ठाकुर 'सहज' का क्या अर्थ है, इस विषय पर चर्चा कर रहे थे। मानो अपनी बात को ठीक से समझाने के लिए वे 'म' से पूछते हैं, "अच्छा, मुझमें अभिमान है?" 'म' ने उत्तर दिया, "जी हाँ, कुछ है, शरीर की रक्षा और भक्ति तथा भक्तों के लिए—ज्ञानोपदेश के लिए। यह भी तो आपने प्रार्थना करके रखा है।" श्रीरामकृष्ण ने तुरन्त ही उनके कथन में सुधार करते हुए कहा, "मैंने नहीं रखा, उन्हीं ने रख छोड़ा है। वे ही सब कर रहे हैं। मैं कुछ भी नहीं जानता।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण के जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में तीन प्रकार के परिवर्तन की बात कही और देखी गयी है—निर्विकल्प समाधि की अधिकाधिक आवृत्ति; दिव्य दर्शनों की अपेक्षा मानवीय स्तर पर—सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल रूप में ईश्वर-

बोध की प्रवृत्ति; तथा अहंकार के क्षीण होने की प्रवृत्ति। क्या ये एक ही सामान्य प्रवृत्ति के तीन विभिन्न पक्ष हैं? क्या ऐसा कोई एकीकरण-सिद्धान्त उपलब्ध है, जिसके द्वारा हम इसकी और भी आसानी से मीमांसा कर सकें? श्रीरामकृष्ण के एक अन्य उपदेश में इसका कुछ सुराग मिलने की सम्भावना है। वे अपने आपको 'विज्ञानी' कहना पसन्द करते थे। इसका तात्पर्य यह है—सामान्यतः भक्त उसे कहते हैं, जो सगुण और प्रायः साकार ईश्वर की उपासना करता है; ज्ञानी निर्गुण-निराकार तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है और बहुधा अपने आपको उच्चतर कोटि का साधक मानता है; परन्तु श्रीरामकृष्ण अपने को विज्ञानी कहा करते थे, अर्थात् जो ज्ञान और अज्ञान दोनों से परे हो—यहाँ तक कि जो ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में अनुभूतिपरक ज्ञान से भी परे जाकर उनके साथ आन्तरिक घनिष्ठता की अनुभूति कर रहा हो। दूध को सिर्फ देखनेवाले तथा उसे वस्तुतः पीकर हृष्ट-पुष्ट होनेवाले में जो भेद है, वैसा ही भेद इसमें भी है। उन्होंने अपने भक्तों को अपना "अन्तिम एवं सर्वाधिक परिपक्व मत" बताते हुए कहा कि सीढ़ी से होकर जिस प्रकार छत पर जाया जाता है, वैसें ही मनुष्य को लीला से होकर नित्य तक पहुँचना चाहिए। नित्य की अनुभूति के पश्चात् उसे पुनः लीला में उतर आना चाहिए और यह अनुभव करने के पश्चात् कि सीढ़ियाँ भी उसी तत्त्व से बनी हैं जिनसे कि छत, उसे अपने मन को भगवद्भक्ति से पूर्ण कर भक्तों के बीच भाव के उसी स्तर में निवास करना चाहिए। उन्होंने

आगे यह भी बताया कि इस अवस्था में निवास करने वाले व्यक्ति में जो थोड़ा-बहुत 'अहं' बच रहता है, वह अज्ञान का अहं नहीं वरन् ज्ञान या भक्ति का 'पक्का मैं' है।

अपने दिये हुए इस उदाहरण में क्या श्रीरामकृष्ण स्वयं 'फिट' बैठते हैं? क्या यह कहना उचित होगा कि ठाकुर के परवर्ती जीवन की ये प्रवृत्तियाँ उनका सीढ़ियों से उतरने तथा सर्वव्यापी ब्रह्म की अधिकाधिक अनुभूति करने के ही उदाहरण हैं? हम तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि श्रीरामकृष्ण के समान जटिल जीवन को वर्गीकरण एवं विश्लेषण के द्वारा समझने का प्रयास व्यर्थ है; जहाँ एक ओर उनका मन निराकार की ओर उठता-सा प्रतीत होता है, वहीं दूसरी ओर वह साकार जगत् की ओर भी अधिकाधिक आकर्षित होता दीख पड़ता है; यदि उनका मैं (जिसके द्वारा उनके स्नेहिल मानवीय गुणों की पहचान होती है) अन्त तक उनके साथ रहता प्रतीत होता है, तो उन्हीं के कथनानुसार वह मिट भी गया (या 'पक्का हुआ') दिखाई देता है। इस भाव को एक बार बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हुए 'म' ने श्रीरामकृष्ण से कहा था, "ईश्वर ने बाकी सभी मनुष्यों को तो मानो मशीन से बनाया, परन्तु आपका निर्माण उन्होंने अपने ही हाथों से किया है।" यह सुनकर ठाकुर हँसने लगे थे।

○

फलवान् वृक्ष की डालियाँ सदा नीचे को झुकी होती हैं।
अगर तुम बड़ा बनना चाहते हो तो छोटा (नम्र) बनो।

——श्रीरामकृष्ण

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) आत्मानं सततं रक्षेत्

एक बार सन्तद्वय गोस्वामीजी तुलसीदासजी और भक्तप्रवर सूरदासजी में भेंट हुई। वे दोनों सत्संग कर ही रहे थे कि अकस्मात् एक उन्मत्त हाथी दौड़ता हुआ उधर आ पहुँचा। लोगों में हड़कम्प मच गया और वे भयभीत हो इधर-उधर भागने लगे। वे जोर-जोर से चिल्लाकर अन्य लोगों को भी हाथी के आने के बारे में आगाह करने लगे। इससे दोनों सन्तों के सत्संग में व्यवधान आया। पूछने पर जब पागल हाथी के उधर ही आने के बारे में पता चला, तब सूरदासजी भागने को उठ खड़े हुए। यह देख गोस्वामीजी ने उनसे कहा, "अरे, दूसरों को भागने दीजिए, आप क्यों भाग रहे हैं? लगता है, भगवान् पर आपका विश्वास नहीं है? क्या दीनदयालु भगवान् हमारी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं?" यह सुन सूरदासजी मुसकराये, बोले, "आपके भगवान् धनुर्धारी हैं, इस कारण वे आपकी रक्षा करने में समर्थ हैं। मगर मेरे आराध्य तो बाल-गोपाल ठहरे। उनसे भला मेरी रक्षा कैसे हो सकती है?"

सूरदासजी के कथन का मर्म गोस्वामीजी के ध्यान में आ गया कि सूरदासजी का अपने उपास्य पर विश्वास तो था, लेकिन वे उनके जिस रूप के उपासक थे, उसी रूप पर उनकी दृढ़ आस्था और श्रद्धा थी। अपनी रक्षा के लिए बालकृष्ण पर निर्भर रहना वे उचित नहीं समझते थे, इसी कारण हाथी से अपनी रक्षा स्वयं करना उन्होंने ठीक समझा।

(२) जब लागा मन उन्नसो

सन्त एकनाथजी जनार्दन स्वामी के शिष्य थे, जो देवगढ़ के एक उच्चाधिकारी भी थे। एकनाथजी को अपने व्यवसाय और व्यवहार में निपुण कराने के इरादे से उन्होंने हिसाब-किताब का काम सौंपा। गुरु-सेवा समझकर एकनाथजी इस काम को दत्तचित्त होकर करते।

एक दिन हिसाब मिलाते समय उन्होंने पाया कि हिसाब एक पाई से चूक रहा था। वे गलती ढूँढ़ने लगे, लेकिन रात के तीन पहर बीतने के बावजूद भूल उनके ध्यान में नहीं आयी। इतने में अचानक जनार्दन स्वामी की नींद खुली, एकनाथजी को कमरे में न देख उन्हें आश्चर्य हुआ। उठकर पास के कमरे में देखा, तो दिये की मन्द रोशनी में मोटी वही सामने रखकर एकनाथजी को हिसाब मिलाते पाया। संयोग से हिसाब उसी समय मिल गया। खुशी और हर्ष के आवेग में एकनाथजी ने ताली बजायी। इतने में जनार्दन स्वामी वहाँ आये और पूछा, "इतनी रात गये हर्ष काहे का हो रहा है?" एकनाथजी ने जब सारी बात बतायी, तो वे बोले, "जब एक पाई की भूल मिलने पर तुम्हें इतना हर्ष हो रहा है, तब सांसारिकता में जो तुम बड़ी भूल कर रहे हो, वह अगर तुम्हारे ध्यान में आ गयी, तो न मालूम तुम्हें कितना हर्ष होगा! यदि तुम भगवान् दत्तात्रेय का तन्मयता से चिन्तन करोगे, तो उनकी कृपादृष्टि प्राप्त करने में जरा भी देर नहीं लगेगी।" एकनाथजी ने गुरु के मुख से ये शब्द क्या सुने, उन्हें मानो भगवत्प्राप्ति की कुंजी ही मिल गयी। वे अहर्निश दत्तदेव के भजन-पूजन में लगे रहे और अन्ततः अपने आराध्यदेव के दर्शन प्राप्त करने में सफल हुए।

(३) लोभ पाप की खान

सन्त परिसा भागवत को एक बार रास्ते में पारस-मणि मिला। वे उसे घर ले आये और उन्होंने उसे पत्नी को दिखाया। पत्नी सन्त नामदेव की पत्नी राजाई की अभिन्न सहेली थी। उसने सोचा कि यदि इसे राजाई को दें, तो बेचारी के दिन फिर सकते हैं। वह दौड़ी-दौड़ी राजाई के पास पहुँची और मणि को देते हुए उससे कहा, "लोहे को स्पर्श कर जितना चाहो सोना बना लो, फिर वापस कर देना।" राजाई ने मणि के सहारे बहुत-सा सोना एकत्र कर लिया और उससे पर्याप्त अनाज और दूसरी चीजें खरीद डालीं।

नामदेव जब घर आये, तो बहुत से पकवान बने देख उन्हें आश्चर्य हुआ। पूछने पर राजाई ने पारसमणि की बात बतायी। नामदेव ने कहा, "नहीं, यह भोजन हमारे काम का नहीं है। यदि इसे गरीबों को बाँट दो, तो उचित होगा। यह मणि भी लोभ की खान है और इसे नदी में डाल देना चाहिए।" मणि माँगकर वे चन्द्रभागा के तट पर आये और उसे नदी म फेंक दिया।

शाम को जब परिसा ने पत्नी से पारसमणि की माँग की, तो उसने नामदेवजी को दे आने की बात बतायी। सुनते ही वे उनके घर गये। जब राजाई ने बताया कि वे उसे लेकर नदी पर गये हैं, तो वे दौड़ते-दौड़ते वहाँ गये। नामदेव के दिखाई देते ही उन्होंने अपना मणि माँगा। नामदेव ने कहा, "अरे, आप उस 'लोभ की खान' की बात कर रहे हैं? उसे तो मैंने अभी-अभी नदी में फेंक दिया है— न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी।" सुनते ही परिसा को गुस्सा आया और उन्होंने नामदेवजी को बुरा-भला कहा। तब

नामदेवजी ने नदी में हाथ डालकर कुछ कंकड़ निकाले और पास ही पड़े एक लोहे के टुकड़े को उनसे स्पर्श किया। परिसा यह देख चकित रह गये कि वह टुकड़ा सोने में बदल गया। अब उन्हें प्रतीति हो गयी कि भक्त के लिए हर चीज सुलभ रहती है, इसलिए उसे लोभ से दूर ही रहना चाहिए। तब परिसा ने स्वयं वे कंकड़ नदी में फेंक दिये।

(४) करामात नाचीज है

प्रसिद्ध धर्मोपदेशक और विद्वान् सन्त हसन बसरी एक बार स्त्री-सन्त रबिया से मिलने गये। उस समय उनका मुकाम नदी-तट पर था। जब नमाज का समय हुआ, तो हसन ने अपना मुसल्ला (नमाज की चटाई) दरिया पर फेंका और रबिया से नमाज पढ़ने की बिनती की। तब रबिया ने अपना मुसल्ला ऊपर हवा में फेंका और बोलीं, "हम नीचे नहीं, ऊपर पढ़ेंगे, जिससे हमें कोई देख न पाए।" हसन को यह देख आश्चर्य हुआ कि उनका मुसल्ला पानी पर स्थिर रह गया था, जबकि रबिया का ऊपर आकाश में फैल गया था। इससे हसन को दुःख हुआ कि काश उनमें भी ऐसी शक्ति होती, तो वे भी अपना मुसल्ला आकाश में फैला सकते। रबिया से उनका दुःख छिपा न रहा, वे बोलीं, "देखो हसन, तुमने जो कुछ किया, वह एक मछली भी कर सकती है और हमने जो किया, वह एक मक्खी कर सकती है। यह हम दोनों को ही नहीं करना चाहिए। जो काम करना चाहिए, वह न तो तुमने किया है और न हमने। वह काम इन दोनों से अलग है और वह है—लोगों को ऊँचा उठाने का।"

बात हसन के ध्यान में आ गयी कि साधु-सन्तों को करतब या चमत्कार के पीछे नहीं भागना चाहिए, बल्कि

ज्यादा इस ओर ध्यान देना चाहिए कि लोगों का अधिक से अधिक झुकाव अध्यात्म की ओर किस तरह जा सकता है। और ऐसा करने में ही उनके जीवन की सार्थकता है।

(५) सेवा मन की निर्मली

एक बार सन्त अबू उस्मान ने प्रवचन में इस बात का जिक्र किया कि उन्हें लोगों के प्रति इतनी सहानुभूति है कि उनके लिए वे दोजख भी जाना पसन्द करेंगे। प्रवचन समाप्त होने पर एक व्यक्ति ने उनसे कहा कि उसे कपड़ों की जरूरत है। तब उन्होंने तुरन्त अपने वस्त्र उतारकर उसे दे दिये।

प्रवचन में प्रसिद्ध सन्त अबू हफ़स हदाद भी मौजूद थे। अबू उस्मान के पास जाकर वे बोले, "तू झूठा है और तुझे वेदी पर बैठने का हक नहीं है। तू नीचे उतर आ।" सुनकर उस्मान को आश्चर्य हुआ, पूछा, "इसकी क्या वजह है ?" हदाद ने कहा, "तू कहता था कि तुझे लोगों के प्रति सहानुभूति है और तूने जरूरतमन्द की ख्वाहिश को पूरा करने की पहल की है। लेकिन शफकत (सहानुभूति) का तकाजा था कि पहले दूसरों को मौका देता और फिर हाजतमंद की हाजत (माँग) को पूरा करता, जिससे वे तुझसे ज्यादा सबाब (पुण्य) के मुस्तकत (अधिकारी) होते।"

सन्त हफस का आशय अबू उस्मान के ध्यान में आ गया और उन्होंने उनसे क्षमा माँगी।

○

श्रीरामकृष्ण-महिमा (१५)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे । बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य वंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है । प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है । हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर के संचालक हैं ।—स०)

(गतांक से आगे)

पाठक—सुनते हैं कि जीव माता के गर्भ में योगावस्था में, भगवान् में चित्त को संयत करके रहता है, यह क्या सही है ?

भक्त—ठाकुर रामकृष्णदेव के श्रीमुख से मैंने स्वयं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं सुना है और यह भी नहीं सुना कि उन्होंने किसी से इस बारे में कुछ कहा हो । फिर भी उन्होंने जहाँ तक मुझे समझाया है, उससे लगता है कि बात ठीक है । एक दूसरे महापुरुष से सुना है—'गर्भ पड़ा जब, योगी मैं था, धरती आकर खायी मिट्टी ।' महापुरुषों की बात अवश्य विश्वास करने योग्य है । जीव जब शैशवावस्था में रहता है, तब उसमें यथार्थ साधक के लक्षण दीख पड़ते हैं । कई बार बच्चों के मुँह से साक्षात् ईश्वर की ही वाणी सुनाई पड़ती है । ठाकुर रामकृष्णदेव भी कहा करते थे कि सिद्धावस्था में जीव का स्वभाव बालक की तरह हो जाता है । साधु-भक्तों की तरह बालक के स्वभाव में बड़ी सरलता रहती है । बालक सत्त्व, रज

या तम इन तीनों गुणों में से किसी के वश में नहीं रहता। बालक के स्वभाव में इस प्रकार की सरलता आदि का होना माता के गर्भ में उसके योगी की अवस्था में रहने का परिचायक है।

पाठक—अभी यह सब बात रहने दें। आपने मेरे मन की एक बात कह दी। मैं सचमुच ही कृष्ण को प्यार करता हूँ, उन्हें खिलाना मुझे अच्छा लगता है। मन ही मन जानता हूँ कि कृष्ण मेरे अपने हैं, वे यदि कभी मुझे मिलें तो उन्हें लेकर मन की तरह-तरह की साध मिटाऊँगा। अब तक भाव को मैंने दबाकर रखा था, पर आज और वैसा नहीं कर सका। कृष्ण के प्रति प्रबल आकर्षण है, मन की साध मन ही मन चुप-चुप मिटाया करता हूँ। बता सकते हैं उन्हें किस तरह पाया जाय? आप लोग कहते हैं रामकृष्ण भगवान् हैं, कृष्ण भी भगवान् हैं, पर मुझे तो रामकृष्ण-रूप की अपेक्षा कृष्ण-रूप में एक विशेष नशा मालूम होता है। जानता हूँ मेरी यह बात आपको बहुत अच्छी नहीं लगेगी, क्योंकि आप लोग तो रामकृष्ण-रूप पर मुग्ध हैं, उन्हीं को सर्वेसर्वा मानते हैं, उन्हीं की लीलाओं का गान करते हैं, उन्हीं के नाम, पूजा-उत्सव आदि को लेकर मगन रहते हैं।

भक्त—छि: छि:, तुम ऐसी बात कह रहे हो जैसे हमें कृष्ण-कथा, कृष्ण-रूप या कृष्ण-भक्त अच्छा न लगता हो? तुम जो कृष्ण को प्यार करते हो, कृष्णानुरागी हो, यह तो मेरे लिए अत्यन्त आनन्द की बात है। तुम कृष्णानुरागी हो इसीलिए रामकृष्ण के दर्शन पा सके। वे कृष्ण ही यह रामकृष्ण हैं, अन्तर इतना है कि इस बार खेल का रंग बदल दिया है और साज-सज्जा भी

एकदम बदल दी है। पर बात क्या है जानते हो, जिसको जना दे रहे या दिखा दे रहे हैं, वह देखता है कि एक ही दूध कभी मक्खन के रूप में दिखता है, तो कभी दही के रूप में, कभी मलाई के रूप में, तो कभी रबड़ी या घी के रूप में। चाहे दही कहो या मक्खन या घी, सब एक दूध की ही अलग-अलग अवस्थाएँ हैं। अन्तर है रूप में और स्वाद म। ठीक इसी प्रकार भगवान् जैसे भी आएँ अथवा जिस रूप में भी आएँ, उनके भीतर वही परब्रह्म है।

रामकृष्णदेव अन्तर्यामी हैं---प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं। जिसने भी एक बार सरल अन्त:करण-पूर्वक भगवान् के किसी भी रूप या भाव का ध्यान किया है, उसे श्रीरामकृष्णदेव के प।स आना पड़ा है और पड़ेगा। रामकृष्णदेव ने भी भावावेश में बार-बार कहा है---जिस व्यक्ति ने एक बार भी सरल हृदय से ईश्वर का ध्यान किया है, उसे यहाँ आना होगा।

पाठक---जो व्यक्ति रामकृष्ण-रूप को छोड़कर अन्य रूप का अभिलाषी है, उसे अपने पास खींचकर राम-कृष्णदेव क्या करेंगे ?

भक्त---पहले वे भक्त को उसके वांछित रूप, गुण और लीला की बात खुलकर या अकेले में सुनाएँगे। इससे क्या होता है जानते हो ? यह कि उस भक्त की अपने इष्टरूप के प्रति व्याकुलता बढ़ जाती है। फिर ठाकुर जब देखते हैं कि ईश्वर के प्रति भक्त का खिचाव खूब बढ़ गया है, तब भक्त जहाँ जाना चाहता है, जिस रूप को देखना चाहता है, उसे साथ लेकर वे जाते हैं और उसकी साध के उस रूप को दिखा देते हैं। वे इस बीच भक्त को किसी भी प्रकार यह जानने नहीं देते कि भक्त

का इष्ट रूप रामकृष्णदेव का ही अपना एक दूसरा रूप है। ऐसा खेल वे क्यों करते हैं जानते हो? इसलिए कि वे किसी का भाव नष्ट नहीं करते। जो कृष्ण को चाहता है, उसके पास वे केवल कृष्ण-कथा, कृष्ण-संगीत और कृष्ण-लीला की माधुरी का वर्णन और प्रदर्शन करते हैं। जो काली-रूप को चाहता है, उसके पास केवल काली-कथा और श्यामा-संगीत रखते हैं।

जो निराकारवादी है, उसके पास केवल वेदान्त की चूड़ान्त बात कहते हैं। सगुणवादियों को सगुण की बात तो निर्गुणवादियों को निर्गुण की बात सुनाते हैं। रामकृष्णदेव का भाव यह है कि चाहे जिस रूप या भाव के प्रति व्यक्ति का खिचाव हो, भगवदनुरागी होना ही असल बात है। व्यक्ति चाहे जैसे, जिस भाव से, जिस रास्ते से क्यों न जाय, उसी एक के पास ही वह पहुँचेगा। ठाकुर रामकृष्ण के सर्वमतसम्मत, असाम्प्रदायिक, सार्वभौम और विश्वजनीन भाव का यह जो माधुर्य था, उसके कारण उनके पास साकारवादी, योग-पथावलम्बी, वेदान्तिक, दरवेश, ईसाई सभी प्रकार के लोगों का समावेश होता था। यह रसप्लुत वसुन्धरा जैसे समस्त फूल-फलों के जन्म देनेवाले लता-गुल्म-वृक्षों का पोषक उपादान अपने वक्ष में वहन करती है, ठीक वैसे ही हमारे श्रीरामकृष्णदेव की देह भी सब प्रकार के मतों और पथों पर चलनेवाले लोगों के लिए पोषक शक्तिरस का वहन करती है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण का नाम है 'विवादभंजन जगद्गुरु'। जो भी उनके शरणागत हुए हैं, उन्हें अभीष्टसिद्धि मिली है और इष्टलाभ हुआ है। जो अन्य रूप के दर्शन के लिए रामकृष्णदेव द्वारा प्रदर्शित पथ पर उनके

साथ जाता है, वह उस समय उन्हें समझ या पहचान नहीं पाता। बाद में जब श्रीरामकृष्ण की कृपा से सफलमनोरथ होता है, तब वह उन्हें समझ और पहचान पाता है।

पाठक—क्या समझता है, क्या पहचानता है ?

भक्त—यह समझता है, और यह प्रत्यक्ष देखता है कि जिसके पास रामकृष्णदेव ने उसे पहुँचा दिया, वे जो हैं, रामकृष्णदेव भी वही हैं; पर हाँ, आकार में, भाव में और आस्वादन में कुछ अन्तर है। आस्वादन में अन्तर का अर्थ समझते हो ?—यह कि भाव में अन्तर। वह कैसा है जानते हो ? कहीं पर ईश्वर-बोध रहेगा, कहीं पर ईश्वर-बोध नहीं रहेगा। जैसे, तुम्हारा कृष्ण के प्रति सखाभाव है; तुम कन्हैया को पाने पर क्या उसे प्रणाम करोगे ? क्या उसके पैर के पास हाथ जोड़कर बैठोगे ? नहीं, बल्कि जैसे तुम अपने यार के साथ व्यवहार करते हो, एक साथ खाते हो, एक साथ बैठते हो, ठीक वैसा ही उसके साथ भी करोगे। पर रामकृष्णदेव के प्रति गुरुभाव अर्थात् भगवान्-भाव प्रबल रहेगा। यद्यपि यहाँअच्छी तरह से समझोगे कि दोनों एक ही तत्त्व हैं, फिर भी आकार, रूप और भाव के पार्थक्य के कारण इतना प्रभेद रहेगा।

पाठक—सभी रूपों में क्या वही एक तत्त्व है, वही भगवान् हैं ? काली, कृष्ण, राम, शिव, राधा, सीता आदि जितने भी आकार और रूप हैं, क्या सब उसी एक ईश्वर के हैं ? फिर साकार में जो तत्त्व है, क्या वही निराकार में भी है ?

भक्त—नहीं तो फिर क्या ?

पाठक—यदि ऐसा है, तो फिर इन समस्त आकारों और रूपों में वही एक भगवान् विभिन्न भक्तों की कामना

पूर्ण करने के लिए सदैव इन सब विभिन्न रूपों से कैसे विद्यमान हैं? मान लीजिए हमारे थियेटर में एक-एक अभिनेता की दो-दो, तीन-तीन भूमिकाएँ हैं। एक भूमिका निभाने के लिए उसे राजा का वेश धारण करना पड़ता है, फिर दूसरी किसी भूमिका में उसे नगर-कोतवाल का वेश लेना पड़ता है, फिर तीसरी भूमिका में उसे कैदी बनना पड़ता है, पर यदि एक ही स्थान पर राजा, नगर-कोतवाल और कैदी की उपस्थिति आवश्यक हो, तो ऐसी दशा में क्या एक ही व्यक्ति द्वारा ये तीन रूप ग्रहण करना सम्भव हो सकता है? एक व्यक्ति बार बार नाना रूपों में अलग अलग वेश धारण कर सकता है, पर एक ही समय में वह एक रूप को छोड़ दूसरा रूप कभी नहीं दिखा सकता।

भक्त—मैंने तुम्हारी बात समझी। यदि एक भगवान् नाना रूपों और विविध आकारों में सर्वत्र समान रूप से सदैव विद्यमान रहने में समर्थ न हों, तो फिर वे भगवान् काहे के? भगवान् के लिए जो अनन्त विशेषण लगाया जाता है, उसके मायने क्या हैं जानते हो?—वे अनन्त रूप से एक प्रकार के नहीं बल्कि अनन्त प्रकार से अनन्त हैं। भगवान् के लिए सब कुछ सम्भव है। भगवान् वस्तुतः क्या हैं यह भगवान् को छोड़ भला और किसने जाना है या जानेगा अथवा किसके लिए जानना सम्भव होगा? तुम तो आठ-दस पों की बात करते हो, मैंने तो श्रीरामकृष्णदेव के पास उसी एक भगवान् के एक एक रूप में अनन्त की कथा सुनी है।

एक दिन रामकृष्णदेव अनन्त का आभास देने के लिए भक्त-मण्डली के बीच कह रहे थे—वहाँ जाने के

रास्ते के दोनों किनारे गुच्छे-गुच्छे राम, गुच्छे-गुच्छे कृष्ण झूल रहे हैं। कृष्ण के एक-एक गुच्छे में इतने कृष्ण हैं, राम के एक-एक गुच्छे में इतने राम हैं कि गिने नहीं जाते। फिर ये गुच्छे भी गिनती में अनन्त हैं। एक गुच्छे के एक कृष्ण ने आकर वृन्दावन में लीला की थी, एक गुच्छे के एक राम ने आकर अयोध्या में जन्म ग्रहण किया था। एक एक मूर्ति अलग अलग होकर अनन्त होने पर भी प्रत्येक में ही पूर्ण ब्रह्मत्व विराजमान है। भगवान् जिस प्रकार एकाधार में अनन्त हैं, वैसे ही अनन्त आधार में भी अनन्त हैं। हम जिस प्रकार एक क्षुद्र जीव हैं, हमारा आधार भी उसके अनुरूप ही क्षुद्र है। अतः उस अनन्त के भाव को किस प्रकार से समझाऊँ बताओ? इसीलिए श्रीरामकृष्णदेव कहते थे—एक सेर के लोटे में क्या पाँच सेर दूध समाता है?

अन्तिम बात यह है कि जो साकार में हैं, वही निराकार में हैं। जिनका साकार, उन्हीं का निराकार। साकार और निराकार दोनों ये ही हैं। इन दो को छोड़कर और भी जो कुछ है,वह भी वही हैं। एक को छोड़कर और दूसरा कहीं नहीं है, इसलिए जितनी अलग अलग बातें सुनते हो, जितने अलग अलग रूप देखते हो, सब उन्हीं के हैं, सभी वे ही हैं। जो आधार हैं, वे ही आधेय हैं। जो अद्वैत हैं, वे ही द्वैत हैं। द्वैत और अद्वैत दोनों उस एक के ही खेल हैं।

जो भाग्यवान् जीव ठीक ठीक द्वैतवादी है, वही ठीक ठीक अद्वैतवादी है। सच्चे द्वैतवादी और सच्चे अद्वैतवादी में कोई अन्तर नहीं। अनन्त के बीच जिसने उस एक के ही खेल को देखा है, उसी के सही मायने में अद्वैतज्ञान हुआ है। अनेक में एक की सत्ता का बोध ही अद्वैतज्ञान

कहलाता है। इस ज्ञान के अर्जन से जीव शिवत्व की अवस्था यानी देवदुर्लभ अवस्था को प्राप्त होता है। तभी तो रामकृष्णदेव कहा करते—'अद्वैतज्ञान को कपड़े के छोर से बाँधकर जो इच्छा हो करो।'

'जो इच्छा हो करो' का मतलब यह नहीं है कि इस प्रकार अद्वैतज्ञान को प्राप्त हुआ पुरुष मनमानी आचरण करेगा। इसका मतलब यह है कि ऐसा पुरुष जो भी करेगा, वह उचित कार्य ही होगा, क्योंकि अब उसके पैर बेताल में पड़ ही नहीं सकते।

भगवान् का खेल अद्‌भुत है, फिर वह खेल भी अनन्त है। तुम जितने भी समय तक खेल को देखते क्यों न रहो, वह खेल क्रमशः तुम्हें अनन्त ही दिखाई देगा। जैसे सागर में कोई जितना ही प्रवेश करे वह सागर की बढ़ती हुई विशालता को ही देख पाएगा, वैसे ही भगवान् के खेल को कोई जितना ही देखे, उतना ही उसके आकार में वृद्धि होती रहेगी। यह खेल प्रकार में भी जैसे अनन्त है, वैसे ही आकार में भी अनन्त है। मनुष्य की बुद्धि में अनन्त वस्तु की धारणा नहीं हो पाती। जिसने उस अनन्त तिल के तिल और उसके भी तिल का आभास पाया है, अर्थात् जिसने उस प्रकाण्डता के कण के कण का भी आभास पाया है, वह अनन्त शब्द का अधिक से अधिक 'अ' तक उच्चारण करके ही अवाक् और आत्महारा हो जाता है। यह आत्महारा होना क्या है जानते हो?—जैसे कलार की दुकान में हाँड़ी-हाँड़ी शराब रखी है, पर कोई उसमें से एक बोतल पीकर ही मदहोश हो जाता है, वैसे ही अनन्त के आभास से भी व्यक्ति मदहोश हो जाता है। (क्रमशः) ○

मानस-रोग (६/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके छठे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रम-साध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

कई महापुरुष अन्तर्मुखी होते हैं। वे अपने में डूबकर आनन्द के उत्स को प्राप्त करना चाहते हैं और इसमें वे सफल भी होते हैं, परन्तु उनकी अन्तर्मुखता से दूसरों की समस्याओं का समाधान नहीं होता। भगवान् शंकर के सन्दर्भ में यही बात कही जा सकती है। उन्हें सुख पाने के लिए पत्नी की आवश्यकता नहीं है। वे पूरी तरह से अन्तर्मुखी हैं। उनकी अन्तर्मुखीनता उन्हें पूर्ण आनन्द प्रदान कर रही है। पर सारा समाज तथा स्वयं पार्वतीजी उन्हें पाने के लिए प्रयत्नशील हैं। भगवान् राम यहाँ पर भी एक सामंजस्य स्थापित करते हैं। अभी तक शिवजी नेत्र मूँदकर समाधि की अवस्था में भगवान् राम का दर्शन कर रहे थे। अब भगवान् राम उनके सम्मुख प्रकट हो गये। इसके माध्यम से उन्होंने दर्शाया कि मैं भीतर ही नहीं वरन् बाहर भी हूँ। वे शंकरजी को अन्तर्मुखता त्याग बाहर आने के लिए प्रेरित करते हैं। वे चाहते हैं कि शंकरजी पार्वती से विवाह कर लें।

एक व्यक्ति और है, जो चाहता है कि शंकरजी का विवाह पार्वतीजी से हो जाय। वह है काम। पर भगवान् शंकर दोनों के प्रति अलग अलग व्यवहार करते हैं। वे भगवान्

राम की तो स्तुति करते हैं, उन्हें नमन करते हैं और उनकी आज्ञा का पालन करने का वचन देते हैं, और जब काम वही चेष्टा करता है, तो उसे जलाकर नष्ट कर देते हैं। ऐसा क्यों? मूलत: काम की निन्दा की जाती है। क्यों? एक दृष्टान्त लें—जैसे, आप किसी व्यक्ति को दूध पिलाएँ और सोचें कि इससे उसकी शक्ति बढ़ेगी और वह स्वस्थ रहकर अधिक सेवाकार्य कर सकेगा। फिर एक प्रक्रिया यह भी है कि किसी व्यक्ति से काम लेने के लिए उसे शराब पिला दें और उसमें जोश पैदा कर उससे काम लें। अब दूध की प्रक्रिया और शराब की प्रक्रिया में अन्तर है। दूध के द्वारा शरीर में जो स्फूर्ति आती है, स्वस्थता आती है, वह क्रमिक रूप से आती है। पर जब व्यक्ति शराब पीता है, तो उसमें स्वस्थता नहीं आती, लेकिन तत्काल उसे क्षणिक जोश का अनुभव होता है तथा वह अपने को स्वस्थ और सबल समझने लगता है। तात्पर्य यह है कि शराब व्यक्ति को थोड़े समय के लिए वैसा अनुभव करा देती है, जैसा वह स्वयं नहीं है।

आपने वह लघु कथा सुनी होगी कि एक व्यक्ति शराब के नशे में चला जा रहा था। उधर से राजा हाथी पर सवार हो चला आ रहा था। शराबी ने उससे पूछ दिया, "ए हाथीवाला, हाथी कितने में बेचेगा?" सैनिक लोग उसकी बात सुन क्रुद्ध हो उसे पकड़ने चले तो राजा ने कहा, "इसे पकड़ने की आवश्यकता नहीं, केवल इसका घर देख आओ।" दूसरे दिन राजा ने सैनिकों को आज्ञा दी कि अब उसे बुला लाओ। जब वह राजा के पास पहुँचा तो राजा ने कहा, "तुम रात में हाथी खरीदना चाहते थे तो आओ, अब उसका सौदा हो जाय।" शराबी

तुरन्त राजा के चरणों में गिर पड़ा और बोला, "महाराज, वह हाथी खरीदनेवाला तो रात में ही चला गया। मैं तो आपकी दीन-हीन प्रजा हूं।" राजा ने उससे कहा, "ऐसी वस्तु ग्रहण कर तुमने कौन सी बुद्धिमत्ता की, जिससे तुम अपनी वास्तविकता ही भूल गये ? तुम्हें दण्ड मिल सकता था, हमारे सैनिक तुम्हें मार भी सकते थे।"

मूल सूत्र यह है कि जीवन में किसी दिशा में प्रवृत्त होने की क्षमता दो प्रकार से प्राप्त होती है—राम से और काम से। संसार में आप ऐसे व्यक्ति देखेंगे, जो भक्त हैं, ईश्वरीय प्रेरणा से कार्य करते हैं, बड़े सक्रिय हैं तथा ऐसे लोग भी दिखाई देंगे, जिनके जीवन में ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं, ईश्वर की कोई प्रेरणा नहीं, फिर भी वे व्यवहार में सक्रिय दिखाई देते हैं। इन दोनों में पार्थक्य क्या है ? एक दूध पीकर स्वस्थता प्राप्त करता है, तो दूसरा शराब पीकर एक झूठी स्फूर्ति। भगवान् राम और काम दोनों ही चाहते हैं कि भगवान् शंकर पार्वतीजी से विवाह करें, पर दोनों की भावनाओं में मौलिक अन्तर है। भगवान् राम आकर शंकरजी के सामने प्रकट हो गये और उनसे बोले, "महाराज, आप तो बहुत बड़े कथावाचक हैं, पर आज कथा मैं कहूँगा और आपको श्रोता बनकर सुनना पड़ेगा।" शंकरजी ने कहा, "प्रभो, आप स्वयं सुनावें इससे बढ़कर सौभाग्य क्या हो सकता है।" तब भगवान् राम ने कथा सुनायी। किसकी कथा ?—गोस्वामीजी लिखते हैं—

अति पुनीत गिरिजा कै करनी।
बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी ।। १।७५।८

—उन्होंने बड़े विस्तार से पार्वतीजी की कथा सुनायी और कहा कि पार्वतीजी का चरित्र पवित्रता, श्रद्धा, तपस्या और निर्मलता से परिपूर्ण है।

जब किसी से विवाह का प्रस्ताव किया जाता है तो बहुधा यह बतलाया जाता है कि कन्या कितनी सुन्दर हैं। पर भगवान् राम ने यह नहीं बतलाया कि पार्वती कितनी सुन्दर हैं। वे कहते हैं कि पार्वतीजी का हृदय कितना उत्कृष्ट, कितना पवित्र और श्रद्धायुक्त है। और कथा सुनते सुनते शंकरजी का मन पार्वतीजी के चिन्तन में नहीं, भगवान् राम में चला गया। उन्हें याद हो आयी कि यही पार्वती पूर्व-जन्म में सती थीं और मैं इनको लेकर दण्डकारण्य में भगवान् राम की कथा सुनने गया था। पर सती ने कथा नहीं सुनी। और भगवान् राम कितने उदार हैं कि जिसने राम की कथा नहीं सुनी उसकी कथा स्वयं सुनाने बैठ गये। इतने उदार कौन हो सकते हैं, इतने महान् चरित्र के तथा क्षमाशील और कौन हो सकते हैं? भगवान् शंकर श्री राम के गुण और सौन्दर्य के चिन्तन में डूब गये। जब भगवान् राम पार्वतीजी के गुणों का वर्णन कर चुके, तो उन्होंने कहा, "अब कथावाचक को भेंट मिलनी चाहिए।"

क्या ?—

अब बिनती मम सुनहु सिव (१।७६)

—"यह कि आप मेरी बात को किसी तरह नहीं टालेंगे।"

कहा जाता है कि भगवान् शंकर और भगवान् राम में तीन नाते हैं—सेवक, स्वामी और सखा के—

सेवक स्वामि सखा सिय पी के (१।१४।४।)

तो, भगवान् राम ने तीनों नातों की दुहाई दी। वे बोले, "महाराज, आप तो मेरे स्वामी हैं, इसलिए—

अब बिनती मम सुनहु।

सेवक स्वामी से विनती करे तो स्वामी को वह स्वीकार करना चाहिए।"

भगवान् शंकर ने कहा, "महाराज, आप भले ही कहें कि आप मेरे सेवक हैं, पर मैं इसे बिलकुल नहीं मानता।"

"तो बराबरी का मित्र तो मानते होंगे? ऐसी दशा में—

'जौं मो पर निज नेहु'

—स्नेह के नाते आप हमारी बात मान लीजिए।"

शंकरजी ने कहा, "नहीं, मैं आपको बराबरी का भी नहीं मानता। मैं तो आपका सेवक हूँ।"

भगवान् राम बोले, "तब तो काम और बन गया। फिर तो मैं आज्ञा देता हूँ कि आप जाइए और विवाह कीजिए—

जाइ बिबाहहु सैलजहि।" (१।७६)

शंकरजी ने कहा, "प्रभो, जहाँ तक मेरे हृदय की बात है, मैं अपने को उसके लिए प्रस्तुत नहीं कर पा रहा हूँ, लेकिन—

नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा।
परम धरमु यह नाथ हमारा॥ १।७६।१-२

—आपका आदेश मेरे सिर-माथे पर है।" शंकरजी का तात्पर्य यह था कि आप आदेश दे रहे हैं, तब अवश्य आपने लोक-कल्याण की दृष्टि से ऐसा किया होगा।

इसलिए भले मेरा हृदय स्वीकार न करे, पर मैं इसे अपने सिर-माथे पर चढ़ाता हूँ। भगवान् राम ने तुरन्त विनोद में कहा, "यदि आप मेरी आज्ञा को सिर पर रखेंगे, तो मुझे डर है कि कहीं वहाँ वह गंगाजी की धारा में पड़कर बह न जाय। अतः सिर पर मेरी बात न रखिए। आप——

अब उर राखेहु जो हम कहेऊ (१।७६।६)

——हृदय में मेरी बात रखिए।"

ऐसा कहकर भगवान् श्री राघवेन्द्र अन्तर्धान हो गये——

अन्तरधान भए अस भाषी। १।७६।७

और तब——

संकर सोइ मूरति उर राखी॥ १।७६।७

——भगवान् शंकर ने भगवान् राम के इसी रूप को हृदय में बसा लिया। बाद में सप्तर्षिगण भगवान् शंकर से मिलने आये। उनसे भगवान् शंकर ने कहा——

पारवती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु (१।७७)

——आप लोग पार्वती के पास जाइए और उनकी परीक्षा लीजिए। प्रभु तो उनकी बड़ी प्रशंसा करके गये हैं, पर मैं प्रभु की प्रशंसा को सरलता से स्वीकार नहीं करूँगा, क्योंकि उनकी प्रशंसा कभी कभी उनके स्वभाव के फलस्वरूप होती है, व्यक्ति के गुणों के कारण नहीं।

प्रशंसा दो प्रकार से होती है। एक तो व्यक्ति दूसरे में गुण देखकर उसकी प्रशंसा करता है और दूसरा, उस व्यक्ति का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह दूसरे में गुण ही गुण देखता है। हमारे प्रभु दूसरों में गुण देखने में बड़े उदार हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उन्होंने उदारता

के कारण पार्वती में गुण देखा हो। सचमुच में क्या पार्वतीजी में परिवर्तन आया है ? सती के रूप में उनके अन्तर्मन में जो संशय था, विकार और दोष था, जिसके कारण उनके और मेरे बीच दूरी उत्पन्न हुई, क्या अब वह दूर हो चुका ?——इसकी परीक्षा आप लोग लीजिए। सप्तर्षिगण जाकर परीक्षा लेते हैं। वे पार्वतीजी से पूछते हैं——

केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू (१।७७)

——"तुम किसकी आराधना कर रही हो और क्या चाहती हो ?"

पार्वतीजी कहती हैं——

चाहिअ सदा सिवहि भरतारा (१।७७।८)

——"मैं शंकरजी को पतिरूप में पाना चाहती हूँ।" सुनते ही सातों महात्मा जोरों से हँस पड़े और बोले——

सुनत बचन बिहसे रिषय गिरिसंभव तब देह (१।७८)

——"पत्थर की बेटी से ऐसी जड़ता की ही तो आशा की जा सकती है। पहाड़ की बेटी ऐसी नासमझी नहीं करेगी तो क्या करेगी !" पर पार्वतीजी अपनी निष्ठा में इतनी दृढ़ थीं कि वे उनकी हँसी से घबरायीं नहीं। यदि किसी बात पर बहुत से लोग एक साथ हँस पड़ें तो व्यक्ति को लगता है कि कहीं मुझसे कोई मूर्खता तो नहीं हो गयी। और यहाँ पर जहाँ सातों बड़े बड़े सिद्ध पुरुष हँस रहे हैं, पार्वतीजी को थोड़ा तो लगना चाहिए था कि कहीं मुझसे भूल हो रही है, पर उनमें इतना परिवर्तन आ चुका था और विश्वास की इतनी दृढ़ता आ गयी थी कि ऋषियों के व्यंग्य का उत्तर व्यंग्य में ही देती हैं। जब ऋषियों ने उनसे कहा कि आखिर तुम पत्थर की बेटी ही ठहरीं, तो

उन्होंने तुरत उलटकर कहा, "महाराज, मैं तो पत्थर की बेटी हूँ ही, पर जो पत्थर की बेटी को कथा सुनाएँ उनको आप क्या कहेंगे? –बुद्धिमान् या कुछ और ? जड़ को कोई भाषण देकर बदलने की चेष्टा करे तो वह बुद्धि-मत्ता का काय नहीं होगा। मैं जड़ की बेटी हूँ, जिसके बदलने की सम्भावना नहीं है, फिर भी उसे आप बदलना चाहते हैं। इससे ऐसा लगता है कि आप कोई बहुत विवेकपूर्ण कार्य नहीं कर रहे हैं।" फिर पार्वतीजी पत्थर की बेटी की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। कहती हैं—आप लोग पत्थर की बेटी का अर्थ भी तो समझिए। सोना पत्थर की खदान से ही पैदा होता है, पर सोने का स्वभाव यह है कि वह जलाने पर भी अपने तेज का परित्याग नहीं करता। इसी प्रकार मैं हिमालय की बेटी हूँ और मेरे अन्तःकरण की श्रद्धा खरे सोने की तरह है, जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आ सकता। गोस्वामीजी लिखते हैं—

सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा।
हठ न छूट छूटै बरु देहा॥
कनकउ पुनि पपान तें होई।
जारेहुँ सहजु न परिहर सोई॥ १।७९।६

पार्वतीजी की ऐसी दिव्य निष्ठा को देखकर सप्तर्षि भगवान् शंकर के पास आते हैं और उन्हें बताते हैं कि पार्वती तो समग्र भाव से श्रद्धामयी बन चुकी हैं, उनका अन्तःकरण पूर्णतः पवित्र हो गया है, उनमें अहंकार का लेशमात्र भी नहीं रहा है। यह सुन शंकरजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने निर्णय लिया कि प्रभु ने जो आदेश दिया, उसे स्वीकार करना चाहिए।

विवाह का निर्णय दो पात्रों में दो अलग अलग प्रकार की प्रक्रिया उत्पन्न करता है। नारदजी ने भी विवाह की योजना बनायी और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उनका मन अत्यन्त चंचल हो गया, सोचने लगे—

जप तप कछु न होइ तेहि काला।
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला ।। १।१३०।८

——इस समय जप-तप से तो कुछ हो नहीं सकता। हे विधाता, मुझे यह कन्या किस तरह मिलेगी ? पर यहाँ जब शंकरजी ने विवाह का निर्णय लिया, तो व पार्वतीजी के चिन्तन में नहीं डूबे, अपितु —

मनु थिर करि तब संभु सुजाना।
लगे करन रघुनायक ध्याना ।। १।८१।४

—सुजान शंकरजी मन को स्थिर करके श्री राम के ध्यान में डूब गये। पर स्वार्थियों का दल शंकरजी को ध्यान में डूबते देख धैर्य खोने लगा। जो स्वार्थी होता है, वह व्यक्ति को दूध के बदले शराब पिलाने की बात सोचता है। उसे लगता है कि दूध से काम जल्दी नहीं बनेगा, उससे स्फूर्ति और शक्ति मिलने में तो कई दिन लगेंगे, जब कि शराब पिलाकर व्यक्ति से तुरत मनमाना काम लिया जा सकता है। भगवान् राम ने तो शंकरजी को विवाह करने का आदेश दिया है और शंकरजी ने उसे स्वीकार भी कर लिया है। वे अभी भगवान् राम के ध्यान में डूबे हैं, पर स्वार्थियों को यह विलम्ब सह्य नहीं हो पा रहा है। ये स्वार्थी कौन हैं ? ये वे ही देवतागण हैं, जिनके बारे में गोस्वामीजी लिखते हैं—

आए देव सदा स्वारथी ।
बचन कहहिं जनु परमारथी ।। ६।१०९।२

—जो स्वार्थी होते हैं, उनमें इतना उतावलापन होता है कि साधन की पवित्रता की ओर उनका ध्यान नहीं जाता । उनका उद्देश्य होता है कि येन केन प्रकारेण उनका काम पूरा होना चाहिए । तो, इन देवताओं ने विचार किया कि शंकरजी तो विवाह करने में बड़ी देर लगा रहे हैं । तब फिर तारकासुर का नाश कैसे होगा ? उसके अत्याचार से संत्रस्त हम लोगों को मुक्ति कैसे मिलेगी ? और देवता लोग इसके निदान के लिए एक योजना बनाते हैं, कहते हैं—

पठवहु कामु जाइ सिव पाहीं ।
करै छोभु संकर मन माहीं ।। १।८२।५

—काम को शंकरजी के पास भेजा जाय, जिससे वह उनके मन में क्षोभ उत्पन्न करे । और जब उस क्षोभ से शंकरजी की समाधि टूट जाय—

तब हम जाइ सिवहि सिर नाई ।
करवाउब बिबाहु बरिआई ।। १।८२।६

—तब हम लोग जाकर उन्हें नमन करके कहेंगे कि महाराज, हम लोगों की प्रार्थना है कि आप विवाह कर लीजिए, इससे उनका संकोच भी दूर हो जाएगा । देवताओं का अभिप्राय यह है कि राम से तो हमारे उद्देश्य की पूर्ति में विलम्ब हो रहा है, अतः काम का सहारा लिया जाय । ऐसा सोच वे काम को निमन्त्रित करते हैं । अब यह विचित्र है कि काम भी शंकरजी को बहिर्मुखी बनाने जा रहा है और राम भी शंकरजी को बाहर आने को कह रहे ह । पर दोनों में अन्तर है । राम के द्वारा प्रेरित हो जब व्यक्ति बाहर आता है, तो उसका अन्तःकरण प्रशान्त होता है, पर काम मन में क्षोभ

उत्पन्न कर तीव्र कामनाओं को जन्म देता है, जो उसे संसार में लगाता है। देवताओं ने काम से कहा—आप जाकर शंकरजी के मन में वासना की सृष्टि कीजिए, जिससे वे विवाह कर लें और हमारा काम बन जाए। काम मुसकराया और बोला—आज तो मुझे शंकरजी के मन में क्षोभ उत्पन्न करने की विलक्षण भूमिका दी जा रही है। पर मैं जानता हूँ कि शंकरजी के विरोध में मेरी कुशल नहीं है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

सुरन्ह कही निज बिपति सब सुनि मन कीन्ह बिचार।
संभु बिरोध न कुसल मोहि बिह स कहेउ अस मार॥ १।८३

—काम ने देवताओं से कहा—मैं जानता हूँ कि मेरा विनाश अवश्य होगा, पर जब आप लोग यह आदेश दे रहे हैं तथा परोपकार के लिए प्रेरित कर रहे हैं, तो मेरे लिए उचित है कि मं यह कार्य करूँ। मैंने जीवन में कोई परोपकार नहीं किया है, अतः कम से कम एक परोपकार कर ही दूं। और इस प्रकार परोपकार की वृत्ति लेकर काम शंकरजी के ऊपर अपना प्रभाव विस्तारित करता है और शंकरजी उसका नाश कर देते हैं।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि काम तो देवताओं, जो सद्‌गुणों के प्रतीक हैं, के आदेश का ही पालन करने आया था, तब उसे नष्ट करना क्या उचित था ? गोस्वामीजी मेघनाद को भी काम के रूप में चित्रित करते हैं, पर वह राक्षस है और उसका प्रेरक रावण है; जबकि यह काम देवता है तथा इसके प्रेरक देव हैं। तो, एक काम वह है जो दुर्गुणों से प्रेरित है और दूसरा वह, जो सद्‌गुणों से। दुर्गुणों की प्रेरणा से आये काम को मारना उचित हो सकता है, पर प्रश्न होता है कि जो

सद्गुणों द्वारा प्रेरित काम है, जिसके मूल में परोपकार की वृत्ति है, उसको मिटाना क्या आवश्यक था ? गोस्वामीजी का इसके पक्ष में तर्क यह है कि काम के मूल में आवेश और विकृति की ही प्रेरणा है। यदि कोई शराबी नशे में बढ़िया स्तोत्र पाठ करने लगे, तो उसे देख क्या हमें प्रसन्नता होगी कि देखो, शराब के नशे में भी कैसा बढ़िया स्तोत्र पाठ कर रहा है ? नहीं, क्योंकि स्तोत्रपाठ के मूल में जो शराब है, वह उसके लिए कल्याणकारक नहीं है। उसी प्रकार इस परोपकारिता के मूल में जो काम है, वह अनर्थकारी है। गोस्वामीजी लिखते हैं कि जब काम चलने लगा, तो उसने सोचा कि शंकरजी पर आक्रमण तो बाद में करेंगे, पहले जरा लोगों को भी अपना चमत्कार दिखा दें। इसका तात्पर्य यह कि दुर्गुणों द्वारा प्रेरित काम की तो बात ही क्या, सद्गुणों द्वारा प्रेरित काम भी नियन्त्रित नहीं होता, वह सीमा और मर्यादा को तोड़े बिना नहीं रहता। इसीलिए भगवान् शिव उसे दण्ड देते हैं। कारण यह है कि काम जहाँ आवश्यक नहीं, वहाँ भी अपने प्रभाव का विस्तार करना चाहता है। जैसे किसी डाक्टर के हाथ में छुरी हो और उसे रोगी की उँगली काटनी हो, तो वह यह ध्यान रखेगा कि जो भाग काटना आवश्यक हो उतना ही कटे। यदि वह सोचे कि उँगली काटने से पहले जरा इसकी धार देख लूं और ऐसा सोच शरीर के अन्य भागों को काटना शुरू करे, तो ऐसे डाक्टर को आप क्या कहिएगा ? डाक्टर कैलाशनाथ काटजू ने अपने मुकदमों के संस्मरण लिखे हैं। उसमें वे लिखते हैं कि मेरे जीवन में हत्या के तरह तरह के मामले आये। किसी ने धन के

कारण, किसी ने जमीन के कारण, तो किसी ने वासना के वशीभूत हो हत्या की थी। पर एक हत्यारा ऐसा भी था, जिसने ऐसे व्यक्ति की हत्या की थी, जिससे उसका कोई परिचय न था और न कोई विरोध ही था। जब एकान्त में उससे हत्या करने का कारण पूछा गया, तो उसने बड़ा अनोखा कारण बतलाया। उसने कहा कि वह अपने फरसे पर धार चढ़वाने के लिए बाजार गया था। जब वह धार करवाकर लौट रहा था तो उसने उस व्यक्ति को सोता हुआ पाया। तो केवल यह मालूम करने के लिए कि फरसे की धार कितनी तेज है उसने फरसा उस व्यक्ति के सिर पर चला दिया। तात्पर्य यह कि ऐसे भी क्रूर व्यक्ति हो सकते हैं, जो केवल फरसे की धार देखने के लिए दूसरों की हत्या कर दें। आप यदि काम की वृत्ति पर विचार करें तो देखेंगे कि यह वृत्ति भी इसी प्रकार की है। काम के लिए बस इतना ही आवश्यक था कि वह शंकरजी के मन में विवाह की इच्छा उत्पन्न कर देता, पर वह सोचता है कि जब मैं मारा ही जाऊँगा, तब मरने से पूर्व क्यों न ऐसा चमत्कार दिखा जाऊँ, जिससे लोग हरदम याद रखें कि मेरा प्रभाव कैसा जबरदस्त था। और ऐसा सोच जब वह शंकरजी की ओर चला, तो गोस्वामीजी उसके द्वारा विस्तारित प्रभाव का बड़े विस्तार से वर्णन करते हैं। कुछ पाठकों को ऐसा भी लगता है कि वर्णन सुरुचिपूर्ण नहीं है और उसको टाला भी जा सकता था। किन्तु यह बात वे लोग कहते हैं, जो बुराई की बुराई सामने रखने से घबराते हैं। पर गोस्वामीजी का उद्देश्य यह है कि बुराई की विकृति को बुराई के रूप में खोलकर रखा

जाना चाहिए, और इसीलिए वे काम के प्रभाव का इतना विस्तृत विवेचन करते हैं। वे लिखते हैं—

तब आपन प्रभाउ बिस्तारा (१/८३/५)

—उसने अपने प्रभाव का विस्तार किया। और—

निज बस कीन्ह सकल संसारा (१।८३।५)

—सारे संसार को अपने वश में कर लिया।

उसे तो देवताओं ने भेजा था, जिससे वह तारकासुर के वध में अर्थात् बुराई को मिटाने में सहायक हो सके। पर काम ने क्या किया ? गोस्वामीजी लिखते हैं—

कोपेउ जबहिं बारिचर केतू।
छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू।। १।८३।६

—उसने श्रुति की मर्यादा को ही नष्ट कर दिया। शंकरजी श्रुतिसेतु के रक्षक हैं और राक्षस उसके भंजक। इस प्रकार देवताओं द्वारा, सद्‌गुणों द्वारा भेजे काम ने राक्षसों का ही कार्य किया। साथ ही—

ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना।
धीरज धरम ग्यान बिग्याना।।
सदाचार जप जोग बिरागा।
सभय बिबेक कटकु सबु भागा।। १।८३।७-८

—ब्रह्मचर्य, व्रत, संयम, धैर्य, धर्म, ज्ञान, विज्ञान तथा विवेक आदि जितने सद्‌गुण थे, सब उसके आक्रमण से भाग खड़े हुए। यही नहीं, गोस्वामीजी आगे लिखते हैं—

सदग्रंथ पर्वत कंदरन्हि महुँ जाइ तेहि अवसर दुर (१।८३।छं)

—जो सद्‌ग्रन्थ थे, वे पहाड़ों की गुफाओं में जाकर छिप गये। तात्पर्य यह कि जब मनुष्य के अन्तःकरण में वासना का आवेश आता है, तो अच्छे ग्रन्थ उठाकर एक किनारे

रख दिये जाते हैं और मनुष्य का मन वासना में डूब जाता है। गोस्वामीजी लिखते हैं कि काम के प्रभाव के कारण प्रकृति के सारे पदार्थों में मिलन की इच्छा उत्पन्न हो गयी—

नदीं उमगि अंबुधि कहुँ धाईं ।
संगम करहिं तलाव तलाईं ।।
जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी ।
को कहि सकइ सचेतन करनी ।। १।८४।२-३

गोस्वामीजी से पूछा गया कि महाराज, जिन योगियों ने मन को जीत लिया था, उन लोगों के मन में तो यह काम नहीं आया होगा ? उत्तर में गोस्वामीजी कहते हैं कि काम का ऐसा चमत्कार था कि—

सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी ।
तेपि कामबस भए बियोगी ।। १।८४।८

—सिद्ध, विरक्त, महामुनि और महान् योगी भी काम के वशीभूत हो गये। इसका अभिप्राय यह है कि जिन साधकों ने यह मान लिया था कि हमने जीवन में काम को जीत लिया है, उन्हें भी प्रतीत होने लगा कि हमारे मन में अभी भी वासना विद्यमान है।

तब स्वाभाविक ही मन में प्रश्न जागता है कि क्या इस काम से रक्षा का कोई उपाय नहीं है ? जब सद्गुणों की, सद्ग्रन्थों की, सत्पुरुषों की यह दशा हुई, तो इससे त्राण पाने का कोई उपाय है ? गोस्वामीजी आश्वस्त करते हुए कहते हैं—नहीं , नहीं, ऐसी बात नहीं। जब रोग है तब दवा भी है—

धरी न काहूँ धीर सब के मन मनसिज हरे ।
जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महुँ ।। १।८५

—जिन लोगों ने अपने को पूरी तरह से भगवान् के प्रति समर्पित कर दिया था, वे ही सुरक्षित रह पाये। उन्होंने यह नहीं माना कि वे अपने बल पर काम को जीत सकते हैं, और इसीलिए भगवान् ने उनकी रक्षा की। बाकी सब दूसरे काम के वशीभूत हो गये। कब तक? गोस्वामीजी लिखते हैं—

उभय घरी अस कौतुक भयऊ।
जौ लगि कामु संभु पहिं गयऊ॥ १।८५।१

—दो घड़ी तक काम का चमत्कार होता रहा, जब तक कि वह शंकरजी के पास नहीं पहुँच गया। 'मानस' में इस 'उभय घरी' के दो प्रसंग हैं। एक राम से सम्बन्धित है और दूसरा काम से। एक खेल राम ने किया था, वह भी दो घड़ी का था और दूसरा काम का खेल भी दो घड़ी का। पहले में भगवान् राम काकभुशुण्डि के साथ खेल रहे थे। इतने में भगवान् की बालसुलभ लीला देख काकभुशुण्डिजी के मन में भ्रम हो गया। भ्रम होते ही वे भगवान् से दूर भागे। भ्रम होने से ही ईश्वर दूर हो जाता है। काकभुशुण्डि कहते हैं—

तब मैं भागि चलेउँ उरगारी।
राम गहन कहँ भुजा पसारी॥
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा।
तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा॥ ७।७८।७-८

—जैसे जैसे मैं भागने लगा, मैं देखता हूँ कि भगवान् की भुजा सब समय मेरे पीछे है। भगवान् ने मेरा कल्याण करने के लिए यह दो घड़ी का खेल किया। अन्त में भयभीत हो मैंने नेत्र मूंद लिये। नेत्र खोलने पर देखा कि मैं अवधपुरी में भगवान् राम के सन्मुख

हूँ। मुझे देख भगवान् राम हँसने लगे। उनके हँसते ही मैं उनके मुख में चला गया। उनके पेट में मैंने लाखों ब्रह्माण्ड, लाखों ब्रह्मा तथा लाखों सृष्टियों का विस्तार देखा।

गरुड़जी ने पूछा कि इतना सब देखने में आपको कितना समय लगा होगा ? गरुड़जी का तात्पर्य था कि भगवान् राम के अवतार का काल ही ग्यारह हजार या तेरह हजार वर्ष है। तब लाखों ब्रह्माण्डों में घूमते रहने में कितना समय न लगा होगा।

काकभुशुण्डिजी बोले—

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका।
बीते मनहुँ कल्प सत एका ।। ७।८१।१

—मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि ब्रह्माण्डों में घूमते एक सौ कल्प बीत गये।

गरुड़जी ने कहा—एक सौ कल्प कैसे ? भगवान् राम तो केवल ग्यारह हजार वर्षों तक रहे ?

काकभुशुण्डि बोले—एक सौ कल्प तो पेट के भीतर लगा, पर जब बाहर आया, तब—

उभय घरी महँ मैं सब देखा (७।८१।८)

—भगवान् ने ऐसा खेल कर दिया कि मैंने एक सौ कल्प का सत्य दो घड़ी में देख लिया। इस दो घड़ी में ही भगवान् राम ने अयोध्या में अपने पेट में ही सारे ब्रह्माण्ड के दर्शन करा दिये। और उधर काम ने भी दो घड़ी का खेल किया। गोस्वामीजी ने लिखा—

उभय घरी अस कौतुक भयऊ (१।८५।१)

—दो घड़ी तक यह खेल हुआ। जब राम ने खेल किया तो ब्रह्माण्ड दिखा दिये, पर जब काम ने खेल किया, तो—

मदन अंध ब्याकुल सब लोका ।
निसि दिनु नहिं अवलोकहिं कोका ।। १।८४।५

—राम जब जीवन में आते हैं, तब सब कुछ सही सही दिखाई देता है और जब काम जीवन में आता है, तो दिखाई देना बन्द हो जाता है। काम शंकरजी के समीप जाता है तो देखता है उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। वह बहुत घबरा जाता है और उसका परिणाम यह होता है कि—

सिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू ।
भयउ जथाथिति सबु संसारू ।। १।८५।२

—लोगों के ऊपर जो काम का नशा चढ़ा था, वह उतर गया और सारा संसार फिर जैसा का तैसा हो गया ।

भए तुरत सब जीव सुखारे ।
जिमि मद उतरि गएँ मतवारे ।। १।८५।३

—सारे जीव ठीक उसी प्रकार सुखी हो गये, जैसे शराबियों को सिर से शराब का नशा उतर जाने से लगता है। पर काम को लगा कि मुझे तो शिव पर आक्रमण करना है। और जब उसने शंकरजी पर आक्रमण किया, तो क्षण भर के लिए उसे लगा कि वह शिवजी पर विजय पाने में समर्थ हो गया है, क्योंकि—

भयउ ईस मन छोभु बिसेषी (१।८६।४)

—क्षण भर के लिए भगवान् शंकर के मन में बहुत क्षोभ हुआ ।

एक श्रोता ने पूछा था कि शंकरजी तो भुवनवद्य हैं, उन्हें क्या रोग हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि क्या वैद्य लोग रोगी नहीं होते ? वैद्य भी कभी कभी अस्वस्थता का अनुभव करते हैं। पर चतुर वैद्य वह है,

जो रोग का निदान कर उससे अपनी रक्षा कर सके। तो, यहाँ जैसे ही शंकरजी के मन में क्षोभ उत्पन्न हुआ, उन्होंने आँखें खोलकर चारों ओर देखा—

नयन उघारि सकल दिसि देखी।

अब तक काम जिस पर आक्रमण करता था, उसे अन्धा बनाता था। केवल शंकरजी ही थे, जो उसके आक्रमण के बाद अन्धे नहीं बने, बल्कि उनकी आँखें और भी पैनी हो गयीं। और वे पैनी आँखों से देखने लगे कि उनके अन्तर्मन में क्षोभ किसने पैदा किया। उन्होंने देखा कि आम के वृक्ष पर काम बैठा हुआ है। भगवान् शंकर तो सब रोगों के वैद्य ठहरे। आयुर्वेद में चिकित्सा की कई पद्धतियाँ हैं, उनमें एक है—विषस्य विषमौषधम्। अर्थात् विष की दवा विष है। भगवान् शंकर इसी पद्धति से काम का निदान करते हैं। उन्होंने नेत्र खोला और देखा—अच्छा, यह काम है, जो मुझे बहिर्मुख बनाना चाहता है, मेरे मन में वासना की सृष्टि करना चाहता है। देवता डर के मारे सोचने लगे कि कहीं शंकरजी अपना तीसरा नेत्र न खोल दें। पर शंकरजी ने तो तीसरा नेत्र खोलने का संकल्प कर लिया था, क्योंकि वही असली और नकली की पहचान की कसौटी थी। राम और काम दोनों ही देखने में एक-जैसे सुन्दर हैं, एक-जैसे धनुर्धारी हैं। भगवान् राम के विवाह के समय भी भगवान् शंकर ने अपना तीसरा नेत्र खोला था और यहाँ पर भी उसी को खोलने का निश्चय करते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जो मेरी तीसरी आँख के सामने ज्यों का त्यों रहे, वह राम है और जो जलकर खाक हो जाय, वह काम है। भगवान् शंकर का निश्चय

जानकर देवतागण आकाश से चिल्लाने लगे कि प्रभो, आपका इस प्रकार क्रोध करना क्या उचित है ? भगवान् शंकर ने कहा कि इस रोग की दवा ही यह है। और—

भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका ।।
तब सिवँ तीसर नयन उघारा ।
चितवत कामु भयउ जरि छारा ।। १।८६।५-६

—उन्होंने तीसरा नेत्र खोला । उनके देखते ही काम जलकर भस्म हो गया । तात्पर्य यह कि उन्होंने विष से विष की दवा की, काम को क्रोध से नष्ट कर दिया । उनका अभिप्राय यह है कि क्षमाशील बनिए, पर बुराई क प्रति क्षमाशील बनना उचित नहीं है । बुराई पर जितना क्रोध कर सकें उतना करें और उसे मिटाने का प्रयास करें, तभी बुराई से रक्षा हो सकती है। काम को समाप्त कर भगवान् शंकर पुनः अपने स्वरूप में स्थित हो गये। भले ही काम देवताओं के प्रति परोपकार की भावना से आया था, पर वह सारे संसार को अनियन्त्रित और उच्छृंखल बनाकर समस्त मर्यादाओं का नाश करने-वाला बन गया था। इसीलिए भगवान् शंकर काम पर क्रोध करते हैं और उसका नाश करते हैं । भगवान् शंकर समस्त रोगों के चिकित्सक हैं । लोक-कल्याण की दृष्टि से भले ही उन्होंने विवाह किया, पर वे कामारि के रूप में विख्यात हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भले ही उनके जीवन में काम-वात की स्वीकृति है, पर वह केवल बाह्य व्यवहार के लिए है। वे स्वयं काम से मुक्त हैं।

O

निम्बाल के सन्त प्रो० रा. द. रानडे

श्रीमती शोभना जोशी
(३९/ए-६, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-६३)

भारत एक आध्यात्मिक देश रहा है। अनादिकाल से अनेकानेक महान् सन्तों ने जन्म लेकर इसकी आध्यात्मिकता को पुष्ट किया है। इसी परम्परा में बीसवीं शताब्दी में एक सन्त हो गये हैं—रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे। ३ जुलाई १८८६ को रानडेजी का जन्म कर्नाटक के जमखण्डी नामक गाँव में हुआ। इनके पिता दत्तात्रेय रानडे जमखण्डी के संस्थान में नौकरी करते थे। कार्यवश उन्हें कई बार बाहर ही रहना पड़ता था। माता पार्वतीबाई के साथ राम अपने गाँव में ही रहते थे। पार्वतीबाई एक सात्त्विक, धार्मिक और आदर्श माता थीं। स्वाभाविक था कि राम पर अपनी माँ का काफी प्रभाव पड़ा।

राम का शालेय जीवन उस देहात के परशुराम भाऊ पटवर्धन स्कूल में शुरू हुआ। बचपन से ही वे बड़े मेधावी छात्र थे और अपने गुरुजनों के प्रिय थे। लेकिन इससे भी बढ़कर एक आध्यात्मिक गुरु, जो कि उनकी जीवन-नैया के खेवैया होनेवाले थे, उन्हें जल्दी ही मिल गये।

उमदीकर महाराज कर्नाटक में एक सुपरिचित सन्त थे। एक दिन अपने शिष्यों को लेकर वे जमखण्डी के एक मन्दिर में पधारे। राम भी अपने दोस्तों के साथ उनका प्रवचन सुनने के लिए वहाँ पहुँचे। उमदीकर महाराज की नजर अपने भावी शिष्य पर पड़ी। अपने पट्टशिष्य कबीरदासजी को देखकर जो आनन्द रामानन्दजी को हुआ

रहा होगा, वैसा ही कुछ आनन्द राम को देखकर उमदीकर महाराज को हुआ । राम की आध्यात्मिक तैयारी देख महाराज ने उन्हें मंत्रोपदेश दिया । लेकिन बचपन में राम ने कोई खास साधना नहीं की । पढ़ाई के प्रति ही उनका ध्यान ज्यादा था, जिसका फल मैट्रिक की परीक्षा में जगन्नाथ शंकर शेट छात्रवृत्ति के रूप में उन्हें मिला । उस समय जमखण्डी की 'रानीसाहेबा' ने अपने गाँव का नाम रोशन करनेवाले राम को हाथी पर बैठाकर पूरे गाँव में घुमाया था और शक्कर बाँटी थी ।

राम का विश्वविद्यालयीन जीवन पुणे के विख्यात डेक्कन कालेज में शुरू हुआ । कालेज का वह प्रशान्त गम्भीर वातावरण और विद्वन्मान्य प्रोफेसरों का मार्ग-दर्शन एक पुरातन गुरुकुल-जैसा था । उन दिनों पढ़ाई का वातावरण बहुत ही उल्लासमय था । प्रो० बेन, प्रो० वुडहाउस और प्रो० शार्प जैसे पण्डितों से सम्पर्क राम के लिए मानो सोने में सुहागा था । 'प्रीवियस' की परीक्षा में वे सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए और आगे चलकर 'इण्टर' की परीक्षा के आधार पर उन्होंने वरजीवनदास छात्रवृत्ति भी हासिल की । वे अपनी कुशाग्र बुद्धिमत्ता और नम्रता के लिए सारे गुरुजनों में प्रिय हुए । बी.ए. की परीक्षा में उन्होंने गणित ऐच्छिक विषय चुना था । लेकिन इस वर्ष अपेक्षा के विपरीत उन्हें द्वितीय श्रेणी मिली । इसका कारण शायद उनके पिता का देहान्त रहा होगा । उनके गुरुजनों को भी इस बात से आश्चर्य और खेद हुआ तथा यह बात उन्होंने अपने पत्रों में व्यक्त भी की । उनके खास चाहनेवाले प्रो० वुडहाउस रानडेजी को थियोसाफिस्ट बनाने का प्रयत्न कर रहे थे । रानडे-जैसा बुद्धिमान् व्यक्ति

थियोसाफी के प्रचार के लिए निश्चित ही लाभदायक साबित होता । इसी प्रयत्न में प्रो० वुडहाउस उन्हें एनी बेसेण्ट के पास बनारस ले गये । रानडेजी किसी कच्चे गुरु के चेले नहीं थे । एनी बेसेण्ट से प्रभावित होने की अपेक्षा एनी बेसेण्ट ने उनके गुरुदेव का फोटो देखकर कहा, "Ranade, you are in safe hands" (रानडे, तुम सुरक्षित हाथों में हो)। इस वाक्य से रानडेजी की अपने सद्गुरु के प्रति श्रद्धा और भी दृढ़ हो गयी ।

बी.ए. की परीक्षा पास करने के बाद रानडेजी डेक्कन कालेज में ही दक्षिणा फेलो की जगह पर नियुक्त हुए । साथ-साथ एम.ए. की परीक्षा की तैयारी भी शुरू की । किन्तु भाग्य का चक्र कुछ अनुकूल नहीं था । दुर्भाग्य से उन्हें मस्तिष्क का यक्ष्मा हो गया और वे बुरी तरह बीमार पड़ गये । काफी इलाज किया गया, लेकिन दवा-दारू से उन्हें कोई लाभ नहीं हो रहा था । अन्ततः उन्होंने अपने सद्गुरु भाऊसाहेब महाराज को अपनी बीमारी के बारे में पत्र लिखा, क्योंकि अब वही एक सहारा था । भाऊ-साहेब महाराज ने कहा—"भगवन्नाम्-स्मरण ही सभी रोगों से मुक्त होने का एकमात्र इलाज है ।" साथ साथ पत्र में उन्होंने यह विश्वास भी दिलाया कि तुम कुछ ही दिनों में स्वस्थ हो जाओगे ।

सद्गुरु के पत्र से रानडेजी को जीवन में आशा की किरण दिखाई देने लगी । विपत्ति में मन की शुद्धि होती है और भगवान् के प्रति मन अपने आप झुक जाता है । रानडेजी पहले से ही आध्यात्मिक स्वभाव के थे, और अब तो शरीर की नश्वरता देखकर उनका मन वैराग्य से भर गया ।

तबीयत कुछ ठीक होते ही उन्होंने एम. ए. की परीक्षा दी। बी. ए. के परीक्षाफल के अपयश की कसर एम.ए. में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होकर पूरी कर ली। उन्हें तेलंग और चान्सलर्स मेडलों से सम्मानित किया गया, तथा उस समय के परीक्षक ने "The examinee knows more than the examiner" (परीक्षार्थी परीक्षक से कहीं अधिक जानता है) ऐसी टिप्पणी उनके परचे में दी।

१९१३ में पुणे के फर्ग्युसन कालेज में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक के पद पर रानडेजी को नियुक्त किया गया। रानडेजी का अंग्रेजी पर पूर्ण प्रभुत्व था और संस्कृत के भी वे पण्डित थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने ग्रीक भाषा आत्मसात् करके प्लेटो-अरिस्टाटल आदि दार्शनिकों के मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उनके कई अंश उन्हें ऐसे कण्ठस्थ थे कि सुनकर छात्र प्रभावित हो जाते थे।

भारतीय दर्शनशास्त्र पाश्चात्य दर्शन से प्राचीन तो है ही, साथ ही कहीं अधिक प्रगत भी है, यह सिद्ध करने के लिए उन्होंने कुछ लेख 'Indian Philosophical Review' में प्रकाशित किये। ये लेख विद्वजनों में बड़े लोकप्रिय हुए। उनका विशेष उल्लेखनीय लेख 'Greek and Sanskrit: A Comparative Study' उनके ग्रीक भाषा और दर्शन पर प्रभुत्व का साक्षी है। उसमें उन्होंने दोनों दर्शनों के अन्तर्गत साम्यों को दर्शाया है। कई स्थानों पर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये आरोपों का उन्होंने खण्डन किया है, पर उनका उद्देश्य दोनों म समन्वय प्रस्थापित करने का था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि लोग उन्हें एक दार्शनिक और विचारक

के रूप में सम्मान देने लगे। बँगलौर और मैसूर विश्वविद्यालयों ने उनके उपनिषद् पर भाषण आयोजित किये। रानडेजी के ओजस्वी भाषणों से अध्यक्ष महोदय, बड़ौदा के सयाजीराव गायकवाड़, इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उन्हें बड़ौदा में उपनिषद् पर भाषण देने के लिए आमंत्रण दिया। 'उपनिषद् रहस्य' पर दी गयी यह व्याख्यानमाला आगे चलकर उनके लिखे 'A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy' की पूर्वपीठिका बनी।

धीरे-धीरे उनकी कीर्ति लोकमान्य तिलक के कानों तक पहुँची। उन दिनों स्वराज्य-आन्दोलन उग्र रूप लेता जा रहा था। तिलक ने 'केसरी' और 'मराठा' नामक पत्रों द्वारा युवा पीढ़ी को जाग्रत् कर दिया था। लोकमान्य ने अपने पत्रों का सम्पादकत्व स्वीकारने के लिए रानडेजी से प्रार्थना की। परन्तु उन्होंने अत्यन्त नम्रतापूर्वक यह कार्य अस्वीकार कर दिया। शायद विषयपराङ्मुख रानडेजी ने अध्यात्म को ही अपने जीवन का एकमात्र आदर्श चुन लिया था। किन्तु इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए उन्हें बहुत कठिन परीक्षा देनी पड़ी। कबीरदास के शब्दों में कहा जाय तो—

साधु होवन कठिन है, लम्बा पेड़ खजूर।
चढ़ै तो चाखै प्रेमरस, गिरै तो चकनाचूर।।

उस प्रेमरस का सेवन करने के लिए उन्हें पूरी तरह से फकीर होना पड़ा। सहसा जीवन पर दुःख के बादल मँडराने लगे। १९१६ में उनका इकलौता पुत्र कालकवलित हो गया। उसके अगले ही साल उनकी पत्नी का 'इन्फ्लुएन्ज़ा' से देहान्त हो गया, और कुछ ही दिनों में

उनकी माता भी स्वर्ग सिधार गयीं। पंछी जैसे अपना घोंसला छोड़कर उड़ जाते हैं, वैसे ही रानडेजी की छोटी-सी दुनिया के साथी उन्हें हमेशा के लिए छोड़कर चले गये। अब साथ देने के लिए एक ही साथी बच रहा, वह था हरिनाम।

उन दिनों वे फर्ग्युसन कालेज के पिछवाड़े स्थित अध्यात्म-भवन में रहते थे। कालेज में पढ़ाने के अलावा बाकी सारा समय वे साधना में ही बिताते थे। कभी-कभी शाम को कालेज के पास की एकान्त पहाड़ियों में ध्यान करने के लिए निकल पड़ते थे, लेकिन भगवान् को शायद इतना भी सुख मंजूर नहीं था। रानडेजी की पुरानी बीमारी ने फिर से एक बार सिर उठाया। अब की बार उन्हें फेफड़ों का तपेदिक हो गया और वे गम्भीर रूप से बीमार हो गये। कालेज में पढ़ाना भी उनके लिए मुश्किल हो गया। उन्होंने लम्बी छुट्टी ली और जीवन की सारी आशा-आकांक्षाओं को छोड़कर वे अपने गुरुगृह इंचगेरी आये। यह उनकी परीक्षा का समय था। न कोई स्वजन, न नौकरी, न जीवन का कोई भरोसा। एक साल तक उन्होंने ठीक तरह से भोजन भी नहीं किया। चार कदम चलना भी मुश्किल हो गया था। सेहत एकदम चिन्ताजनक हो गयी थी। ऐसी मरणासन्न अवस्था में भी उनका नाम-स्मरण अविरत चल रहा था। एक दिन निराश होकर उन्होंने अपना मृत्युपत्र भी तैयार किया, लेकिन क्या ईश्वर अपने अनन्य भक्त को इस तरह मरने देता?

जिस अविनाशी आत्मतत्त्व की अनुभूति उन उपनिषद्कालीन ऋषि-मुनियों ने की थी, वह अनादि अक्षर परब्रह्म कलियुग के इस महान् सन्त के सामने प्रकट हुआ।

हृदय की प्रार्थना जब वाष्प के रूप में ऊपर जाती है, तब कहीं भगवत्कृपा वर्षा के रूप में आती है।

इतनी दिव्य अनुभूतियों के बाद अब वह व्याधि कहाँ रही? किसी औषध के बिना केवल ईश्वर-नाम-स्मरण के आधार पर उन्होंने मृत्यु को लौटा दिया। साँप अपनी केंचुली त्यागकर नव उत्तेजना से जैसे चपल हो जाता है, वैसे ही रानडेजी अपनी व्याधि त्यागकर हरिरस से प्रफुल्लित हो गये।

सिद्धावस्था प्राप्त करने के बाद रानडेजी एक महान् कार्य के लिए प्रेरित हुए। वह था आत्मानुभूति के आधार पर अध्यात्मशास्त्र का विवरण। आत्मसाक्षात्कार के पथ पर जो गलत-फहमियों के काँटे पड़े थे, उन्हें दूर करना था। इसके लिए उन्होंने औपनिषदिक वचनों का आधार लिया। उपनिषद् के महासागर में बिखरे हुए मोतियों को एकत्र करके उन्होंने जो माला बनायी है, वही 'A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy' के रूप में प्रकाशित है।

बीमारी के कारण अधूरा रहा उनका यह ग्रन्थ १९२६ में प्रकाशित हुआ। उस समय तक डॉयसन का उपनिषद् पर लिखा हुआ ग्रन्थ मौलिक माना जाता था। पर रानडेजी का उक्त ग्रन्थ अनुभूति और विवेचन-शैली की दृष्टि से उससे भी आगे निकल गया। इसके प्रकाशन से देश-विदेश के विद्वानों द्वारा रानडेजी पर स्तुति-सुमनों की वर्षा होने लगी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति सर गंगानाथ झा इस ग्रन्थ से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने रानडेजी को अपने विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में कार्य करने के लिए आमंत्रित किया।

अपने पत्र में वे लिखते हैं—

"I need not add that personally I shall regard it as my greatest achievement as Vice-Chancellor if I succeed in bringing to the University a professor of your calibre and attainment. So, please do not disappoint." (मैं यह कहने की आवश्यकता नहीं समझता कि आप-जैसे गुणी और उपलब्धिवान् पुरुष को यदि मैं विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के रूप में लाने में सफल हो सका, तो उसे मैं कुलपति के रूप में अपनी सर्वोच्च उपलब्धि मानूंगा। अतएव मुझे निराश न कीजिएगा।)

उस समय रानडे महोदय बीजापुर जिले के निम्बाल नामक छोटे से गाँव में रहते थे। अब तक वे दुबारा गृहस्थाश्रमी बन चुके थे। इंचगेरी में ही रानडेजी के समक्ष दूसरा विवाह कर लेने का प्रस्ताव रखा गया था। उस समय रानडे की वय इकतीस वर्ष की थी। पहले उन्हें दुबारा विवाह का प्रस्ताव रास न आया, पर बाद में आज्ञा शिरोधार्य करते हुए उन्होंने १ जून १९२२ को इस्लामपुर की मनु वैद्य से दूसरा विवाह कर लिया। अपने एक स्नेही को उन्होंने पत्र में लिखा था—"एकनाथ महाराज जैसे सन्त को ईश्वर-साक्षात्कार के बाद भी गृहस्थाश्रमी होना पड़ा था। उनके सामने मुझ-जैसा व्यक्ति कुछ भी नहीं है।" रानडेजी गृहस्थाश्रमी तो बने पर नाममात्र के लिए। उनका घर सदैव ठेठ आश्रम ही बना रहा। दुनिया के कोलाहल से अतिदूर इस सुनसान भूमि पर उनकी पारमार्थिक जीवन-धारा चुपचाप बह रही थी। इसी बीच अचानक उसे प्रयाग की भौतिक गंगा ने आमंत्रित किया। लेकिन प्रयाग

की सर्दी को देखते हुए और इतनी दूर जायँ या न जायँ इस वैचारिक द्वन्द्व के कारण उन्होंने कई दिनों तक गंगानाथजी को पत्र का उत्तर नहीं लिखा। लेकिन बार-बार उनके स्नेहपूर्ण बुलावे को वे ठुकरा भी नहीं सके। आखिर १९२७ के दिसम्बर में उन्होंने इलाहाबाद जाकर दर्शन-विभाग का कार्यभार सम्हाला। यह नौकरी रानडेजी के इह-लौकिक जीवन को सफल बनाने में सिद्ध हुई। अठारह साल तक उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग के प्रमुख के नाते काम किया। इलाहाबाद यदि उनकी कर्मभूमि थी, तो निम्बाल थी उनकी धर्मभूमि। अपने विश्वविद्यालयीन काम के अलावा तीन-चार महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों की रचना भी उन्होंने यहाँ पर की। इलाहाबाद में हिन्दी 'सन्तबानी' का अध्ययन करके उन्होंने 'परमार्थ-सोपान' और 'Pathway to God in Hindi Literature' इन ग्रन्थों की रचना की। इसी तरह नागपुर विश्वविद्यालय में दिये 'गीता व्याख्यानों' को परिवर्धित करके 'Bhagavadgita as a Philosophy of God-Realisation' नामक किताब भी लिखी। इनके अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थों की रचना और पूर्वतैयारियाँ होती रहीं।

गर्मियों की छुट्टियाँ होते ही वे निम्बाल लौट आते थे। इस सन्त को देखने कई लोग वहाँ जाते थे, मगर उनके साथ रहना कोई सामान्य बात नहीं थी। उस सुनसान जगह में न तो कोई प्राकृतिक सौन्दर्य था, न मनोरंजन का कोई साधन। खाना एक ही समय मिलता था, वह भी अत्यन्त सादा। सोने के लिए न पलंग थे, न बैठने के लिए कुर्सियाँ। ऐसे वातावरण में 'आठ प्रहर झूमत रहे जस मैगल हाथी' इस कबीरोक्ति के अनुसार रानडेजी दिन-

रात ईश्वरोन्माद में मस्त रहते थे। लेकिन सामान्य व्यक्ति का वहाँ पर टिकना मुश्किल था। इलाहाबाद में भी इनका रहन-सहन इसी प्रकार सादा था। फिर भी इनके घर आनेवाले मेहमानों में कोई कमी न आयी। डा० राधाकृष्णन् की रानडेजी से घनिष्ठ मित्रता थी। एक प्रसंग में वे कहते हैं, "मैं प्रो० रानडे को लगभग तीस साल से जानता हूँ। मुझे उनमें अति श्रेष्ठ विद्वान्, उत्तम सुहृद तथा महात्मा मिले।...प्रो० रानडे के लिए दर्शन प्रज्ञान का अनुसन्धान था, न कि केवल बौद्धिक व्यायाम। उनके लिए यह आत्मा का सतत ध्यान करना था, आत्मसाक्षात्कार को समर्पित करके जीवन बिताने का मार्ग था।"

सेवानिवृत्त होने के पहले एक साल रानडेजी इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कुलपति रहे। एक विशेष समारोह आयोजित करके उन्हें डी.लिट्. से सम्मानित किया गया और 'एमेरिटस प्रोफेसर' के पद पर भी नियुक्त किया गया। इससे उनका उस विश्वविद्यालय से अन्त तक सम्बन्ध बना रहा। हर साल दो-तीन महीनों के लिए वे यहाँ आया करते थे।

अब तक रानडेजी का कीर्ति-सौरभ एक प्रोफेसर के अलावा सन्त के रूप में फैल चुका था। अब उन्होंने परमार्थ-प्रसार के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। स्वयं आत्मज्ञान प्राप्त करके मुमुक्षुओं को ज्ञान-मार्ग दिखाने का कार्य सन्तों के अलावा अन्य कौन कर सकता है? ईश्वरादिष्ट हो गुरुदेव रानडे साधकों को मंत्र देने लगे। उनके आश्रम में शिक्षित-अशिक्षित, गरीब-अमीर और जात-पाँत का कोई भेद नहीं था। सभी को समान रूप से प्यार और मार्गदर्शन मिलता था। उनके खरे

साधुत्व की कीर्ति सुनकर फ्रान्स के डा० दमार्के और उनकी पत्नी निम्बाल पधारे तथा उन्होंने रानडेजी से मंत्रदीक्षा ली। इस तरह रानडेजी ने सात समन्दर पार भी सनातन धर्म की ध्वजा फहरायी। वे चाहे निम्बाल में रहें या निम्बाल से बाहर, उनसे मिलने के लिए लोगों का ताँता लग जाता था। उनका दर्शन तथा उनके साथ सम्भाषण करने का मौका दोनों ही दुर्लभ थे। अपनी ध्यान-धारणा के बाद ही वे लोगों से मिलते थे। उनकी आध्यात्मिक परिचर्चा के लिए 'सिटिंग' शब्द प्रचलित था। इसमें भक्तजनों के साथ सुखद संवाद होता और जिज्ञासुओं के प्रश्नों का समाधान किया जाता। रानडेजी के शिष्यवर्ग में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और हरिजन सभी श्रेणी के लोगों का समावेश था। उन पर निम्नलिखित दोहा पूरी तरह लागू होता था—

सन्तन के मन रहत है सबके हित की बात।
घट घट देखै अलख को, देखै जात न पाँत।।

निम्बाल आनेवालों में स्वाभाविक ही कर्नाटक और महाराष्ट्र के लोग अधिक थे। वे उस पुण्यभूमि पर बहनेवाली आध्यात्मिक गंगा में पुनीत होकर लौटते। इस देवदूत की अमृतमय वाणी, पवित्र आचार, सादा भेष सभी कुछ अद्भुत था। उन्होंने बार-बार एक ही सन्देश दोहराया, "ईश्वर-प्राप्ति ही मनुष्य-जीवन का उच्चतम ध्येय है, इसे प्राप्त करने के लिए नाम-स्मरण करो, साधना करो।" उनकी प्रत्येक कृति में भक्ति का स्वर सुनाई देता है—चाहे वह ग्रन्थ-रचना हो, चाहे व्याख्यान या परिचर्चा।

रानडेजी के शिष्यों के मन में उनकी इकहत्तरवीं

वर्षगाँठ मनाने की इच्छा थी। जब वे इकसठ वर्ष के हुए थे, तब उन्होंने अपनी सालगिरह मनाने से साफ इन्कार किया था। लेकिन इस बार उन्होंने अनुमति दे दी। एक तो शायद उन्होंने अपने भीतर मृत्यु की आहट सुन ली होगी; और दूसरे, जमखण्डी, जहाँ उनकी वर्षगाँठ का समारोह सम्पन्न होनेवाला था, वे कई सालों से नहीं गये थे। वे उन पावन स्थानों को एक बार फिर देखना चाहते थे, जहाँ उनके सद्गुरु आया करते थे, प्रवचन देते थे और जहाँ उन्होंने अपने गुरु से बीजमंत्र लिया था।

बड़े उत्साह से उनके शिष्यगण अमृत-महोत्सव की तैयारी में जुट गये। रानडेजी का सत्कार-समारोह परशुराम भाऊ थिएटर में आयोजित किया गया था। इसमें सांगली, मिरज तथा अन्य रियासतों के राजे-महाराजे, जमखण्डी की रानीसाहेबा लीलावतीदेवी पटवर्धन, आई.सी.एस. दांडेकर, लोकनायक अणे, बी. डी. जत्ती तथा अनेक साधक उपस्थित थे। जमखण्डी के परशुराम भाऊ पटवर्धन स्कूल में जहाँ रानडेजी ने अपनी शिक्षा का प्रारम्भ किया था, उनके तैलचित्र का अनावरण हुआ।

जमखण्डी में और कुछ दिन ठहरने के बाद रानडेजी निम्बाल लौटे। लेकिन उनकी सेहत दिन-प्रतिदिन गिरती गयी। एक दिन 'सिटिंग' में उन्होंने अपने शिष्य को कबीर का यह पद गाने को कहा—

'सत्तर बरस तक घर बनाया,
मौत का डंका बजा, बेहद दिल में डर उठा ॥'

पद सुनकर कुछ शिष्यों को आभास हुआ कि वे महा-निर्वाण की तैयारी कर रहे हैं। देहत्याग के पाँच दिन पूर्व उन्होंने भोजन छोड़ दिया। अपनी पत्नी से कहा, "मेरे

पीछे सारी जिम्मेदारी तुम्हारी है ।" और तत्पश्चात् उन्होंने मौनव्रत धारण कर लिया । मन ही मन अखण्ड नाम-रटन चलने लगा । हर दिन की भाँति ६ जून १९५७ को रात का भजन चल रहा था और रानडेजी अपने कमरे में सद्गुरु भाऊसाहेब महाराज को प्रणाम करके जो सोये तो फिर उठे ही नहीं ।

जिस प्रकार सरिता अपना नाम-रूप सब कुछ छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार अपनी विद्वत्ता, मान-सन्मान, पद, कीर्ति सब कुछ छोड़कर रानडेजी परब्रह्म में लीन हो गये--

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽ-
स्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

--मुण्डकोपनिषद् (३-२-८)

○

जिस कटोरे में लहसुन पीसकर रखा जाता है, उसकी गन्ध सौ बार मांजने पर भी नहीं जाती। 'मैं'-पन भी ऐसा ही पाजी है, चाहे कितनी ही कोशिश करो, वह जाते-जाते भी नहीं जाता ।

--श्रीरामकृष्ण

पण्डिताः समदर्शिनः

(गीताध्याय ५, श्लोक १४-१९)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥५/१४॥

प्रभुः (ईश्वर) लोकस्य (जीवों के) न (न) कर्तृत्वं (कर्तापन को) न (न) कर्माणि (कर्मों को) न (न) कर्मफलसंयोगं (कर्मों के फल के संयोग को) सृजति (रचता है) तु (किन्तु) स्वभावः (प्रकृति) प्रवर्तते (बर्तती है)।

"ईश्वर न तो जीवों के कर्तापन को, न कर्मों को और न कर्मफल के संयोग को रचता है, किन्तु स्वभाव (प्रकृति या अज्ञान) ही बर्तता है।"

पूर्व श्लोक में कहा गया कि सांख्ययोगी अपने को देही अनुभव करता हुआ न कर्म करता है, न करवाता है। तब प्रश्न उठता है कि फिर कर्म कौन करता या करवाता है? कर्मफल के साथ जीव को कौन जोड़ता है? इन प्रश्नों का सामान्य उत्तर यह है कि ईश्वर ही ऐसा करता है। इसके पक्ष में गीता के ही उद्धरण दिये जा सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इसी अध्याय के अन्तिम श्लोक में अपने को 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' (यज्ञ और तपों का भोक्ता) कहते हैं। दूसरी जगह कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १८/६१

—'अर्जुन, ईश्वर सब भूतों के हृदय में वास करता है और अपनी माया के द्वारा उन सबको यंत्र पर आरूढ़

हुओं के समान घुमाता है ।' फिर श्रुति भी कहती है—"नन्वेष साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते" अर्थात् ईश्वर जिसकी ऊर्ध्वगति करना चाहता है, उससे तो शुभ कर्म करवाता है । 'और जिसकी अधोगति करना चाहता है, उससे अशुभ कर्म करवाता है । देवीसूक्त' में भी हम पढ़ते हैं—"यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम्"—मैं जिसे चाहती हूँ, उसे बड़ा करती हूँ, ब्रह्मा बना देती हूँ, ऋषि बना देती हूँ, मेधासम्पन्न बना देती हूँ; फिर जिसे चाहती हूँ, उसे अधोगामी बना देती हूँ ।

इस प्रकार शास्त्रों के कितने ही ऐसे उद्धरण दिये जा सकते हैं, जहाँ बतलाया गया है कि ईश्वर ही जीव में कर्तृत्व की प्रेरणा देता है, कर्मफल प्रदान करता है । कई भारतीय दर्शन भी ईश्वर की धारणा कर्मफल-प्रदाता के रूप में करते हैं । पर इस श्लोक में बतलाया गया है कि ईश्वर जीवों में न तो कर्तापन का रचयिता है, न वह कर्म का निर्माण करता है और न कर्मफल के संयोग का ही कर्ता है । अब ये दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं । प्रश्न उठता है कि इनमें कौनसी बात सही है ? इसका उत्तर यह है कि यदि निरपेक्ष दृष्टि से देखा जाय, तब तो ईश्वर जीवों के कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल-संयोग इन तीनों का रचयिता नहीं है; भले ही सापेक्ष दृष्टि से, चलती भाषा में, हम ईश्वर पर इनका उत्तरदायित्व सौंपें । कारण यह है कि यदि हम ईश्वर को इनका रचयिता मान लें, तब तो जीव कभी भी कर्तापन और कर्मफल के बन्धन से नहीं छूट सकेगा । इससे मुक्ति का

सिद्धान्त ही कट जाएगा। फलस्वरूप शास्त्रों की व्यर्थता ही सिद्ध होगी, क्योंकि शास्त्र मुक्ति की मान्यता पर ही खड़े हैं। निश्चय ही शास्त्र स्वयं अपनी व्यर्थता सिद्ध नहीं करना चाहेंगे।

तब प्रश्न आता है कि इन सबका कर्ता फिर कौन है और शास्त्रों के इन वचनों का क्या तात्पर्य ? गीता बता रही है कि कर्तापन, कर्म और कर्मफल-संयोग 'स्वभाव' के कारण उत्पन्न होते हैं। 'स्वभाव' का तात्पर्य है प्रकृति। सांख्यदर्शन की दृष्टि से त्रिगुणात्मक प्रकृति ही जीव में कर्तृत्व आदि का सृजन करती है, प्रभु यानी पुरुष तो निरपेक्ष द्रष्टा है। 'स्वभाव' को वेदान्त में 'अज्ञान' कहते हैं और 'प्रभु' का अर्थ 'आत्मा' लिया जाता है। आत्मा साक्षी, द्रष्टा है, अज्ञान के कारण आत्मा को जीव को कर्तापन आदि देनेवाला मान लिया जाता है। पात्र के हिलते जल में यदि सूर्य हिलता हुआ दिखता है, तो यह सूर्य का दोष नहीं है, जल का दोष है। जल का हिलना यदि बन्द हो जाय, तो सूर्य उसमें स्थिर दिखेगा। इसी प्रकार जीव का कर्तृत्व यदि आत्मा का दिया हुआ लगता हो, तो इसमें दोष आत्मा का नहीं है। जैसे सूर्य ने अपने प्रतिबिम्ब को हलन-डुलन क्रिया से युक्त नहीं किया बल्कि जल का दोष ही उसके लिए दायी है, उसी प्रकार आत्मा ने जीव को कर्तृत्व आदि से युक्त नहीं किया, उसके लिए तो अज्ञान ही दायी है।

भक्ति की दृष्टि से 'प्रभु' का अर्थ है ईश्वर और 'स्वभाव' का तात्पर्य ईश्वर की माया से है। तो, शास्त्रों में जहाँ भी ईश्वर को जीव के कर्तृत्व आदि का हेतु बताया है, वहाँ ऐसा मानना चाहिए कि यह भक्ति की

भाषा है और वह बात ऐसे लोगों के लिए कही गयी है, जो ज्ञान की पात्रता नहीं रखते। वहाँ पर भी शास्त्र यह कहना नहीं भूलते कि ईश्वर अपनी माया के द्वारा ऐसा करता है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर साक्षात् कर्ता नहीं है, माया ही कर्ता है अर्थात् अज्ञान ही कर्तृत्व आदि का बोध पैदा करता है।

विवेच्य श्लोक से यह भी ध्वनित होता है कि जीव स्वभाव के कारण, अज्ञान के कारण कर्मफल से युक्त होता है। जैसे, मनुष्य ने एक कर्म किया, उसका फल होगा। यह जो कर्मफल पैदा हुआ, वह कर्म की अपनी शक्ति के कारण, प्रकृति के अपने गुणों के कारण। पूर्व-मीमांसक इस शक्ति को 'अपूर्व' कहकर पुकारता है। अब प्रश्न यह है कि मनुष्य के कर्म का फल तो पैदा हुआ, पर उसका उस मनुष्य के साथ संयोग कौन कराता है? उत्तर यह है कि वह मनुष्य स्वयं। मनुष्य ही अपने अज्ञान से, अपनी चाह के कारण अपने को कर्मफल के साथ जोड़ लेता है। ईश्वर यह संयोग नहीं कराता। यदि ईश्वर इस संयोग का हेतु होता, तब तो, जैसा हमने पूर्व में कहा, यह संयोग कभी कट ही नहीं सकता था और फल-स्वरूप, जीव कभी कर्मबन्धन से छूट ही नहीं सकता था। अतएव निष्कर्ष यह है कि स्वभाव यानी प्रकृति यानी अज्ञान यानी माया ही जीव में कर्तृत्व पैदा करती है, उससे कर्म कराती है और उसे कर्मफल से जोड़ती है, और इस प्रकार जीव का जन्मान्तर-चक्र चलता रहता है। यदि मनुष्य अपने किये कर्म का फल स्वयं के लिए न चाहे, तो कर्मफलसंयोग कट जाता है और यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने में रोड़ा है

स्वभाव, अज्ञान, माया ।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥५/१५॥

विभुः (सर्वव्यापी ईश्वर) न (न) कस्यचित् (किसी के) पापं (पापकर्म को) च (और) न (न) एव (ही) सुकृतम् (शुभ कर्म को) आदत्ते (ग्रहण करता है) अज्ञानेन (अज्ञान के द्वारा) ज्ञानम् (ज्ञान) आवृतं (ढका हुआ है) तेन (इससे) जन्तवः (सब जीव) मुह्यन्ति (मोहित हो रहे हैं)।

"सर्वव्यापी ईश्वर न तो किसी के पापकर्म को ग्रहण करता है, न ही किसी के शुभ कर्म को। अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं।"

यदि ईश्वर को जीव में कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल-संयोग की रचना करनेवाला मान लिया जाय, तब तो जीव सर्वथा परतन्त्र हो जाएगा। फिर ईश्वर भी जीव के कर्मों से लिप्त माना जाएगा। यदि ईश्वर जीव को कर्तृत्व और कर्मफल प्रदान करता है, तब तो यही मानना पड़ेगा कि जीव के भले-बुरे कर्मों की प्रेरणा ईश्वर ही देता है। परिणामस्वरूप वह भी शुभ या अशुभ से जुड़ा माना जाएगा। यदि कोई व्यक्ति मुझे अच्छे और बुरे कार्यों में लगाता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि उस व्यक्ति की अच्छे और बुरे कर्मफलों में रुचि है। ईश्वर ऐसा नहीं है यही बताने के लिए पूर्व श्लोक में कहा गया कि जीव में कर्म, कर्तापन और कर्मफल का संयोग रचनेवाला ईश्वर नहीं है। अब यहाँ पर कह रहे हैं कि इसीलिए वह ईश्वर 'विभु'—सर्वव्यापी—होता हुआ भी न तो किसी के पाप को ग्रहण करता है, न पुण्य को।

भले ही वह विभु होने के कारण सभी जीवों के भीतर व्याप्त है, पर वह साक्षीभाव से स्थित है। उसकी विद्य-मानता मात्र से मनुष्य का अन्त:करण सक्रिय हो बुरे या अच्छे कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है।

बिजली के भौतिक दृष्टान्त के द्वारा ईश्वर या आत्मा के साक्षीभाव को मोटे तौर पर समझाया जा सकता है। बिजली से विपरीत गुणधर्मवाले कर्म होते दिखाई देते हैं—वह ताप देती है तो शीत भी; वह आक-र्षण करती है तो विकर्षण भी। पर इसके लिए बिजली जिम्मेदार नहीं है, वह तो यन्त्र पर निर्भर है कि वह ताप प्रकट करता है या शीत, आकर्षण की क्रिया या विकर्षण की। विद्युत् का इन क्रियाओं के प्रति साक्षीभाव है। इसी प्रकार अनन्त विपरीत-गुणधर्माश्रय ईश्वर को मनुष्य के शुभ या अशुभ कर्म से कोई मतलब नहीं। वह जो सबके भीतर व्याप्त है, तो उसकी विद्यमानता ही मनुष्यों के मनोयंत्रों को उनके अपने संस्कारों के अनु-सार क्रियाशील बना देती है और जीव अच्छे या बुरे कर्म करते दिखाई देते हैं।

ऐसा होते हुए भी ईश्वर को कर्ता, कर्म और कर्मफल का जो हेतु देखा जाता है, उसका कारण है जीव के ज्ञान का अज्ञान के द्वारा ढक जाना। यह अज्ञान अनादि-सिद्ध है और ऐसी भ्रान्ति पैदा करता है कि ईश्वर ने मुझे मेरे कर्म का उचित फल नहीं दिया, जबकि दूसरे को अधिक दे दिया। अब मनुष्य का अहंकार इस अज्ञान का हेतु है या अज्ञान उसके अहंकार को जन्म देता है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह पहेली वैसी ही है जैसे बीज पहले या वृक्ष ?

प्रश्न उठता है कि यदि अज्ञान अनादि है, तो उसका अन्त भी नहीं होगा ? इस पर कहते हैं कि नहीं, अज्ञान का नाश होता है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्॥ ५/१६॥

तु (परन्तु) येषां (जिनका) तत् (वह) अज्ञानम् (अज्ञान) आत्मनः (आत्मा के) ज्ञानेन (ज्ञान द्वारा) नाशितं (नाश किया गया है) तेषां (उनका) तत् (वह) ज्ञानम् (ज्ञान) आदित्यवत् (सूर्य के समान) परं (परम तत्त्व को) प्रकाशयति (प्रकाशित कर देता है)।

"परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान द्वारा नाश को प्राप्त हुआ है, उनके लिए वह ज्ञान (उस) परम (तत्त्व या सत्य) को सूर्य के समान प्रकाशित कर देता है।"

यहाँ बतला रहे हैं कि उस परम सत्य—आत्मा या ईश्वर या ब्रह्म—को जानने के लिए किसी नये ज्ञान की सृष्टि नहीं करनी पड़ती, वह ज्ञान तो हमारे भीतर सदैव से है, केवल अभी छिपा हुआ है। अज्ञान का आवरण उस पर पड़ा हुआ है। जैसे मेघ का आवरण सूर्य पर पड़ने से सूर्य दिखाई नहीं देता और दिशाएँ अन्धकार से भर जाती हैं, वैसे ही। अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य को लाना नहीं पड़ता, केवल मेघ को दूर करना पड़ता है। उसी प्रकार अज्ञान के दूर होते ही वह ज्ञान परमसत्यरूप सूर्य को प्रकाशित कर देता है। ऋग्वेद कहता है—"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्" (१/२२/२०)—'ज्ञानी सर्वव्यापक परमेश्वर के उस परमपद को सदैव इस प्रकार देखते हैं,

जैसे खुली आँखों से आकाश में सूर्य दिखाई देता है ।'

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत् परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।५/१७।।

तद्बुद्धयः (जिनकी बुद्धि तदाकार है) तदात्मानः (जिनका मन तदाकार है) तन्निष्ठाः (जिनकी निष्ठा यानी स्थिति परमात्म-तत्त्व में है) [ऐसे] तत्परायणाः (तत्परायण पुरुष) ज्ञाननिर्धूत-कल्मषाः (ज्ञान के द्वारा पाप-मल से धो लिये जाकर) अपुनरावृत्ति (अपुनरावृत्ति यानी आवागमन से मुक्ति यानी परमगति को) गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं)।

"(उस परमात्मतत्त्व से) जिनकी बुद्धि तदाकार (हो गयी) है, जिनका मन (भी) तदाकार (हो गया) है (और) जिनकी निष्ठा (उस तत्त्व में हो गयी) है (ऐसे) तत्परायण (पुरुष) ज्ञान के द्वारा पाप-मल से धो लिये जाकर (अर्थात् पापरहित होकर) (आवागमन से मुक्ति-रूप) अपुनरावृत्ति (अर्थात् परमगति) को प्राप्त होते हैं।"

यहाँ और आगे के श्लोकों में ज्ञानयोग के द्वारा परमात्मा को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषों के लक्षण बताये जा रहे हैं। जिनके अन्तःकरण का अज्ञान ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है तथा जिनके लिए उनका वह ज्ञान परमतत्त्व को प्रकाशित कर देता है, उनकी बुद्धि, मन और निष्ठा एकमात्र परमात्मतत्त्व में ही लगी रहती है। 'तद्बुद्धयः' का तात्पर्य है बुद्धि का परमात्मतत्त्व से तद्रूप होकर रहना—बुद्धि में यह दृढ़रूप से निश्चय हो जाना कि सच्चिदानन्द परमात्मा से भिन्न उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। इसी प्रकार जब मन के सारे संकल्प-विकल्प परमात्मतत्त्व को ही लेकर होते हैं, मन में उठनेवाली हर वृत्ति परमात्मरूप ही मालूम पड़ती है, तो ऐसी स्थिति

को 'तदात्मानः' शब्द द्वारा सूचित किया गया है। मन और बुद्धि के उस परमतत्त्व से तद्रूप हो जाने पर साधक की अहंवृत्ति उसी में निष्ठित हो जाती है अर्थात् वह परमात्मतत्त्व ही उसके अहं का आधार बन जाता है। यह प्रस्तुत श्लोक में 'तन्निष्ठाः' कहकर व्यक्त हुआ है। इस प्रकार जब मन, बुद्धि और अहंकार उस तत्त्व से तद्रूप हो जाते हैं, तो चित्त पूरी तरह से परमात्म-परायण हो जाता है। यह स्थिति 'तत्परायणाः' शब्द से ध्वनित हुई है। साधक का समूचा अन्तकरणः ही—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की समस्त वृत्तियों के साथ—परमात्मा में अभिन्नरूप से स्थित हो जाता है। यही कल्मष से, पाप से रहित होने की अवस्था है। अन्तःकरण में जब तक मल रहता है, तब तक वह परमात्मा में पूर्ण-रूपेण स्थित नहीं रह सकता, पर जब निरन्तर विचार-विवेक और ध्यानाभ्यास से धुलकर मलरहित हो जाता है, तो साधक को सिद्ध बना कर उसे परमपद की प्राप्ति करा देता है। यह 'अपुनरावृत्ति' की अवस्था है, जब व्यक्ति का जन्म-मृत्यु का चक्कर कट जाता है। शंकरा-चार्य 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'यथोक्तेन ज्ञानेन निर्धूतो नाशितः कल्मषः पापादिसंसारकारणदोषो येषाम्'—'यथोक्त ज्ञान के द्वारा संसार के कारणरूप पापादि दोष जिनके नष्ट हो चुके हैं'।

ऐसे ज्ञानीजन 'समदर्शी' बन जाते हैं यह बतलाते हुए कहते हैं—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥५/१८॥

पण्डिताः (ज्ञानीजन) विद्याविनयसंपन्ने (विद्या और विनय से

युक्त) ब्राह्मणे (ब्राह्मण में) गवि (गाय में) हस्तिनि (हाथी में) च (तथा) शुनि (कुत्ते में) च (और) श्वपाके (चाण्डाल में) [भी] समदर्शिनः (समभाव से देखनेवाले) एव (ही) [होते हैं]।

"(वे) ज्ञानीजन विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में तथा कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव से देखनेवाले ही होते हैं।"

यहाँ पर उस ज्ञान की महिमा गायी जा रही है। जिसके अन्तःकरण में ज्ञान के द्वारा अज्ञान का परदा हटने पर उस परमतत्त्व का प्रकाश हो जाता है, वह सर्वत्र सम देखता है। चाहे ऊँचे से ऊँचा व्यक्ति हो, चाहे नीचे से नीचा, ज्ञानी पुरुष के पास जातिगत श्रेष्ठत्व और कनिष्ठत्व का भेद नहीं रहता। सामान्यतः अपने संयमित आहार-विहार और अपेक्षाकृत चारित्रिक गुणों की अधिकता के लिए पूर्वकाल में ब्राह्मण को श्रेष्ठ माना जाता था तथा संस्कारहीन जीवन बिताने के लिए कुत्ते के मांस का भक्षण करनेवाले चाण्डाल को निकृष्ट। अब ऐसा ब्राह्मण यदि विद्या से युक्त हो, तो उसकी श्रेष्ठता बढ़ गयी। फिर वही यदि विनय से भी संयुक्त हो, तब तो वह सबसे श्रेष्ठ हो गया। पशुओं में गाय को सात्त्विक माना जाता है तथा हाथी और कुत्ते को राजसिक और तामसिक माना गया है। यह सब कहने का उद्देश्य मात्र यह है कि ज्ञानी जाति और गुणों के कारण भेद न देखता हुआ सबमें उसी परमात्मरूप परमतत्त्व को अनुस्यूत देखता है। श्रीरामकृष्ण जब ज्ञान की इस अवस्था को प्राप्त होते हैं, तब वे भिखारियों की जूठी पत्तल से कुत्ते के साथ भोजन करने में संकोच का अनुभव नहीं करते, क्योंकि वे अपने में, भिखारी और

कुत्ता सबमें उसी आत्मा के दर्शन करते हैं।

दक्षिणेश्वर में एक पागल-सा दिखनेवाला व्यक्ति कुत्तों के साथ भिखारियों द्वारा छोड़ी गयी पत्तलें चाट रहा था। श्रीरामकृष्ण ने उसे देखते ही समझ लिया कि वह पागल नहीं, पहुँचा हुआ महात्मा है। उन्होंने अपने भानजे और सेवक हृदयराम से कहा, "देख रे हृदू, जा उस व्यक्ति के पास और ज्ञान का उपाय पूछ।" हृदयराम को यह निर्देश अच्छा नहीं लगा, बोला, "क्या मामा, तुम नाहक ही मुझे उस पागल के पास जाने को कह रहे हो!" श्रीरामकृष्ण बोले, "नहीं रे, वह पागल नहीं, महात्मा है।" हृदयराम गया और जाकर नमस्कार करके उसने ज्ञान का उपाय पूछा। पागल कुछ बोला नहीं। हृदय ने जब दूसरी बार, और तीसरी बार पूछा, तो वह पागल उठकर बिना कुछ बोले जाने लगा। जब हृदय भी पीछे पीछे जाकर उपाय पूछने लगा, तो पागल ने पत्थर उठाकर हृदय की ओर फेंकना शुरू किया। पर जब हृदय इससे भी विरत नहीं हुआ और पागल के पीछे पड़ा ही रहा, तो अन्त में उसने भागते भागते नाली की तरफ संकेत करते हुए हृदय से कहा, "जब इस नाली और गंगा के जल में कोई भेद नहीं देखोगे, तब ज्ञान होगा।" नाली में वह रहा था गन्दा जल। पागल कहता है कि नाली का गन्दा पानी और गंगा का पावन जल—दोनों में जिस अवस्था में कोई भेद नहीं रह जाता, वही ज्ञान की अवस्था है। ऐसी ही अवस्थावाले ज्ञानी को प्रस्तुत श्लोक में 'पण्डिताः समदर्शिनः' कहा है।

प्रश्न उठता है कि ज्ञानी फिर व्यवहार किस प्रकार करता होगा? वह ब्राह्मण और कुत्ते में कोई भेद न

देखने के कारण क्या आँगन में आये हुए कुत्ते को भी आसन प्रदान करेगा, जैसे वह समागत ब्राह्मण के लिए करता है ? यदि कहो "हाँ", तब तो ऐसे ज्ञानी और पागल में भेद कहाँ ? ऐसा व्यक्ति श्रद्धार्ह और पूजनीय न होकर पागलखाने में रखने योग्य होगा। और यदि कहो "नहीं", तो फिर विवेच्य श्लोक में उसके समदर्शी होने की जो बात कही गयी है, वह कट जाती है।

इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी को 'समदर्शी' कहा गया है, 'समवर्तनशील' नहीं। ज्ञानी सबके प्रति समदर्शी होता है, समान व्यवहार करनेवाला नहीं। समदर्शी का मतलब सबकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझनेवाला। ज्ञानी का यह दृष्टिकोण रहता है कि जो बात उसे कष्ट पहुँचाती है, वह सभी को कष्ट पहुँचाएगी, इसलिए वह सचेष्ट रहता है कि उसके द्वारा किसी को कष्ट न पहुँचे, किसी का अहित या अनिष्ट न हो। पर व्यवहार में तो भेद बनाकर उसे रखना ही होगा।

श्रीरामकृष्ण का जीवन शास्त्र के इन सिद्धान्तों का अपूर्व निदर्शन है। जब भक्तों ने समदर्शित्व के ऐसे ही किसी प्रसंग पर उनसे पूछा कि इससे व्यवहार कैसे चलेगा, तो उन्होंने उत्तर में एक दृष्टान्त सुनाया। किसी गुरुकुल में एक दिन गुरुजी ने ब्रह्मचारियों को पाठ पढ़ाया कि सबके भीतर नारायण का वास है, इसलिए सबमें नारायण को देखते हुए नमस्कार करना चाहिए। कक्षा-समाप्ति पर सब ब्रह्मचारी अपने-अपने काम में चले गये। जिसे जंगल से समिधा लाने का काम मिला था, वह लकड़ी का गट्ठर ले आश्रम लौट रहा था। रास्ते में उसने देखा कि राजा का पागल हाथी फीलखाने को तोड़कर बाहर

आ गया है और रास्ते में जो कुछ मिलता है उसे नष्ट कर जंगल की ओर भागा चला आ रहा है। महावत हाथी पर सवार तो है और अंकुश से वह हाथी को बारम्बार चोट भी पहुँचाये जा रहा है, पर हाथी वश में नहीं आ रहा है। ब्रह्मचारी को रास्ते से आते देख महावत जोरों से चिल्लाया--"ओ ब्रह्मचारीजी, रास्ते से हट जाओ, हाथी पगला गया है, जाने क्या कर डाले!" पर यह सुनकर भी ब्रह्मचारी रास्ते से नहीं हटा और विचार करने लगा--"आज ही तो गुरुजी ने हमें पढ़ाया है कि सबमें नारायण को देखकर नमस्कार करना चाहिए मेरे। भीतर जो नारायण हैं, वही हाथी के भी भीतर हैं, तब मुझ-नारायण को हाथी-नारायण से क्या भय?" और ऐसा निश्चय कर उसने हाथी-नारायण को नमस्कार किया तथा रास्ते से नहीं हटा और आगे चलने लगा। महावत चिल्लाता ही रह गया। इतने में हाथी ने ब्रह्मचारी को अपनी सूँड़ में लपेट लकड़ी के गट्ठर समेत एक ओर फेंक दिया।

चोट खाकर ब्रह्मचारी बेहोश हो गया। जब यह खबर आश्रम में पहुँची, तो गुरुजी विद्यार्थियों को लेकर वहाँ आये और उस मूर्छित ब्रह्मचारी को आश्रम ले गये। वहाँ उपचार से जब वह होश में आया, तो एक गुरुभाई ने उससे पूछा, "अरे, तुम कैसे विचित्र हो? महावत जब इतना चिल्ला-चिल्लाकर तुम्हें सावधान कर दे रहा था, तब तुम रास्ते से हटे क्यों नहीं?" इस पर वह ब्रह्मचारी क्षीण स्वर में बोला, "आज ही तो गुरुजी ने सबमें नारायण को देखने का और नारायण को देखकर नमस्कार करने का पाठ पढ़ाया था न। इसीलिए मैंने हाथी में नारायण को देखते हुए उसे नमस्कार किया और सोचा कि मुझ-

नारायण को हाथी-नारायण से क्या भय हो सकता है?" गुरुजी पास ही खड़े थे। ब्रह्मचारी की बात सुन बोले, "बेटा, मैं तुम्हारी निष्ठा से प्रसन्न हूँ, पर तुम यह भूल गये कि जो महावत इतने जोरों से चिल्लाकर तुम्हें रास्ते से हट जाने की वात कह रहा था, वह भी तो नारायण का ही रूप था, फिर तुमने महावत-नारायण की वात क्यों नहीं मानी?"

यह दृष्टान्त सम-र्दशित्व और सम-र्वातत्व के अन्तर को स्पष्ट करता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि प्राणियों में भी कितने प्रकार होते हैं—गाय होती है, बाघ होता है। सवमें नारायण हैं, पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि कोई जाकर बाघ-नारायण को अपने आलिंगन में ले ले। उससे बचना पड़ता है। किसी दुष्ट-नारायण से केवल दूर से नमस्कार का सम्बन्ध रखना पड़ता है और दूसरे किसी दुष्ट-नारायण को देखकर कन्नी काट लेनी पड़ती है। यह व्यवहार का सिद्धान्त है।

तो, प्रस्तुत श्लोक का अर्थ यह है कि ज्ञानी सबके प्रति कल्याण की भावना में सम रहता है। मैं अपने सिर, हाथ, पैर या गुदादि अंगों के प्रति इस अर्थ में समभाव रखता हूँ कि इन सभी अंगों की पीड़ा को अपनी पीड़ा मानता हूँ। पैर में यदि पीड़ा हो, तो मैं यह नहीं कहता कि पैर तो शरीर का सबसे निकृष्ट भाग है, उसकी पीड़ा को बाद में दूर करेंगे, या यदि गुदा में पीड़ा हो तो ऐसा विचार नहीं रखता कि वह तो शरीर का गन्दा भाग है, उसकी उपेक्षा करो। शरीर के सिर और पैर में पीड़ा हो तो यह विचार नहीं करता कि सिर चूँकि शरीर का श्रेष्ठ स्थान है, इसलिए उसकी चिकित्सा पहले हो। यदि पैर का कष्ट अधिक हो, तो पहले मैं पैर की चिकित्सा कराता हूँ और

फिर सिर की। तात्पर्य यह है कि शरीर के अंगों में पीड़ा होने पर मैं चिकित्सा के लिए अंगों की श्रेष्ठता पर विचार नहीं करता, अपितु इस पर विचार करता हूँ कि किस अंग की पीड़ा अधिक है। यही अंगों के प्रति मेरा सही समभाव है। इसी प्रकार समाज में उच्च और निम्न व्यक्ति हैं, अलग-अलग श्रेणी के पशु हैं। ज्ञानी सबके प्रति प्रेम-भाव रखता है और जब सहायता का प्रयोजन होता है तो ज्ञानी पुरुष मनुष्यों में ऊँच-नीच का भेद नहीं देखता, अपितु जिस तबके के व्यक्ति को सहायता की अधिक आवश्यकता होती है, उसी की मदद के लिए सामने आता है। इसी प्रकार यदि पशुओं को उसकी सेवा की आवश्यकता हो, तो वह यह नहीं विचार करेगा कि गाय है इसलिए उसकी सेवा करूँ और कुत्ते की न करूँ, बल्कि यह देखेगा कि किस पशु को उसकी सेवा की अधिक आवश्यकता है। यही ज्ञानी का सम-दर्शित्व है।

ऐसा समदर्शी तत्त्वज्ञ पुरुष इसी जीवन में सांसारिकता पर विजय पाकर जीवन्मुक्ति का अधिकारी हो जाता है, यह बतलाने के लिए अगला श्लोक कहते हैं——

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५/१९॥

येषां (जिनका) मनः (मन) साम्ये (समत्वभाव में) स्थितं (स्थित है) तैः (उनके द्वारा) इह (इस जीवित अवस्था में) एव (ही) सर्गः (जीवन-मरणरूप संसार) जितः (जीत लिया गया) हि (चूंकि) ब्रह्म (ब्रह्म) निर्दोषं (निर्दोष है) समं (सम है) तस्मात् (इसलिए) ते (वे) ब्रह्मणि (ब्रह्म में) स्थिताः (स्थित हैं)।

"जिनका मन समत्वभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही जन्म-मरणरूप संसार को जीत लिया गया है। चूंकि

ब्रह्म (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) निर्दोष और सम है, इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थित (होते) हैं।"

जिसने अपनी भेदबुद्धि जीत ली और ऊपर कहे हुए समत्व में स्थित हो गया, उसने मानो जीते-जी सारे सर्ग को ही जीत लिया। यह जन्म-मरणरूप संसार-चक्र सर्ग कहलाता है। सर्ग का बीज है कामना और कामना का बीज है भेद-दर्शन। वैषम्य-बोध ही हमारे भीतर चाह पैदा करता है। यदि सब ओर एकत्व के ही दर्शन होने लगें, तो व्यक्ति अपने से भिन्न के अभाव में किसकी कामना करेगा? 'ईशावास्योपनिषद्' के ऋषि इसी सत्य को रेखांकित करते हुए कहते हैं—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

—जिस समय विज्ञानी पुरुष के लिए समस्त भूत आत्मा ही हो गये, उस समय एकत्व देखनेवाले उस विद्वान् को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है?

तो, ऐसा समदर्शी पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है। उस पर यह संसार-प्रपंच अपना कोई प्रभाव नहीं डाल पाता। वह सबके लिए सम हो जाता है। वह 'ज्ञाननिर्धूत-कल्मष' तो हो ही चुका है, इसलिए वह निर्दोष भी हो जाता है; द्वैत का कल्मष—दोष—उसमें नहीं रह जाता। और चूंकि ब्रह्म 'सम' और 'निर्दोष' कहा जाता है, यह विज्ञानी पुरुष भी सम और निर्दोष होने के कारण ब्रह्म में ही स्थित कहा जाता है। श्रुति में जो यह कहा गया कि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है), उसकी सार्थकता इस तत्त्वज्ञ पुरुष के जीवन में सिद्ध हो जाती है। ○

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:—
सुरेशचन्द्र दत्त
(पूर्वार्ध)

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के एक न्यासी तथा प्रशासी मण्डल के एक सदस्य होते हुए उसके सहायक सचिव हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके फरवरी, १९८१ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक स्वामी श्रीकरानन्द रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं।—स०)

सन् १८९४ ईसवी के आसपास की घटना है। एक शाम दत्त-परिवार के लोग दत्त-बन्धुओं में सबसे छोटे और ऐसे आफिस में बड़े बाबू के रूप में कार्यरत चारुचन्द्र के आफिस से लौटने का बेसब्री से इन्तजार कर रहे थे, पर वह नहीं आया। उसके दूसरे दिन भी वह नहीं लौटा और फिर कभी लौटा ही नहीं। उसको खोजने के सारे प्रयास विफल हुए। बाद में पता लगा था कि उसने पत्नी और एकमात्र पुत्र को पीछे छोड़ ईश्वर-लाभ के लिए संसार त्याग दिया था। इस घटना से उसके बड़े भाई सुरेशचन्द्र विचलित हो उठे, क्योंकि अपने स्वयं के परिवार के पालन-पोषण के लिए भी वे चारुचन्द्र पर निर्भर थे। निश्चय ही, उस समय सुरेशचन्द्र को यह आभास न हुआ था कि इस घटना का इतना दूरगामी परिणाम होगा कि उनके भीतर की छिपी सांसारिक जीवन के प्रति वैराग्याग्नि

धधकती ज्वाला में बदल जाएगी।

६ बलराम मजूमदार स्ट्रीट, शोभाबाजार, कलकत्ता में १८५० में जन्मे सुरेशचन्द्र दत्त अपने माता-पिता के दूसरे पुत्र थे।[1] उनके पिता माधवचन्द्र हाटखोला, कलकत्ता के नामी दत्त-परिवार से थे, और गवर्नमेंट टेलिग्राफ आफिस में क्लर्क थे। कवि के रूप में उनकी कुछ ख्याति थी तथा समकालीन पत्रिका 'प्रभाकर' और 'रसराज' में उनकी कुछ कविताएँ छप चुकी थीं। अपने पिता से सुरेश को साहित्य और कला में रुचि विरासत में मिली थी। माता त्रैलोक्यमोहिनी की बुद्धिमत्ता, पवित्रता और सर्वोपरि, दृढ़ इच्छाशक्ति ने बालक के चरित्र-गठन पर गहरा प्रभाव डाला था। सुरेश की माता का देहान्त तब हो गया था, जब वह पाँच वर्ष का था, इसलिए उसका पालन-पोषण उसकी दादी, हरचन्द्र दत्त की विधवा ने किया था। परिवार उदार विचारवाला होने पर भी जब बड़े पुत्र जोगेशचन्द्र ने ईसाई-धर्म अपना लिया और परिवार से अलग हो गया, तब उस घटना ने उसके मर्म पर सबसे अधिक चोट की।

बचपन से ही सुरेश में सरलता तथा धार्मिक पवित्रता विशेष रूप से दिखाई पड़ती थी। उसके उदार दृष्टिकोण तथा विवेकी स्वभाव के कारण वह अपने समवयस्कों में एकदम अलग दिखाई पड़ता। अत्यधिक तनाव की स्थिति भी उसे आत्मसम्मान और स्वातंत्र्य की भावना से डिगा

---

१. ये मूल जानकारियाँ 'प्रतिवासी' (सत्यचरण मित्र द्वारा प्रकाशित बँगला मासिक) के भाग २, अंक १० एवं ११, बंगाब्द १३१९ में प्रकाशित सुरेशचन्द्र दत्त की जीवनी से ली गयी हैं।

नहीं सकती थी । एक स्वदेशी विद्यालय में उसने अपनी शिक्षा प्रारम्भ की थी, पर उसकी पढ़ाई अधिक दिन तक चालू नहीं रह सकी, क्योंकि १८५७ के सिपाही-गदर के कारण समाज में सर्वत्र अशान्ति और अनिश्चितता का वातावरण बन गया था । बाद में उसने अहीरीटोला के बंग विद्यालय में दो वर्ष पढ़ाई की । फिर परिस्थितियाँ ऐसी बनीं कि उसने मि० डफ द्वारा चलाये जा रहे पाइकपारा राजपरिवार के विद्यालय 'दि जनरल असेम्बली इन्स्टीट्यूशन' से एक एक करके परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं और अन्त में चर्च मिशन सोसायटी के स्कूल से अन्तिम परीक्षा दी । १८७० की एन्ट्रेंस परीक्षा में वह द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ । असन्तुष्ट और दुःखी सुरेश ने मेडिकल कालेज में प्रवेश लिया, परन्तु एक साल बाद ही उसे छोड़ दिया ।

सुरेश का १८७० के दशक के अन्तिम भाग में दुर्गाचरण नाग से परिचय हुआ था । दुर्गाचरण नाग तब डा० बिहारीलाल भादुड़ी के पास डाक्टरी काम सीख रहे थे । सुरेश से चार वर्ष छोटे दुर्गाचरण कट्टर निष्ठावान् हिन्दू थे । सुरेश ने यदि उनमें निष्कलंक चरित्र देखा, तो दुर्गाचरण ने भी सुरेश में पवित्र चरित्रवाला सुलझा व्यक्तित्व पाया । वैसे बाह्य दृष्टि से बिल्कुल विपरीत स्वभाव और दृष्टिकोणवाले होने पर भी उन दोनों ने आपस में एक दूसरे के प्रति एक प्रकार के आकर्षण का अनुभव किया और घनिष्ठ मित्र बन गये । बहुधा उनमें धार्मिक विषयों पर गरमागरम बहस हो जाया करती ।

तत्कालीन बहुत से शिक्षित युवकों के समान सुरेश का भी ब्राह्म-समाज की ओर झुकाव था और सम्भवतः

वे उसके अधिकृत सदस्य भी थे। स्पष्ट ही ईश्वर के निराकार रूप की साधना में उनका विश्वास था। फिर भी अपने मित्र दुर्गाचरण, जो कट्टर निष्ठावान् हिन्दू थे, की पारम्परिक पूजा-अनुष्ठान को दख उन्हें सोचने के लिए विवश होना पड़ता। यह द्वन्द्व बहुत दिनों तक बना रहा और इससे मुक्त होने के लिए सुरेश को काफी कीमत चुकानी पड़ी।

चूँकि सांसारिक जीवन एकदम से नहीं छोड़ा जा सकता इसलिए सुरेश उससे ऊपर उठकर रहने की चेष्टा करने लगे। यद्यपि यह बताना कठिन है कि अपने जीवन के विभिन्न खिचावों के प्रति वे कितना ध्यान देते थे, पर जीवन के भौतिक सुखों के प्रति उनकी जैसी उदासीनता थी तथा धार्मिक बातों की तरफ जैसा जोर था, उससे उनकी प्रवृत्ति का अन्दाज लगाया जा सकता था। वास्तव में, उनका जीवन साहस, उद्यम और गार्हस्थ्य जीवन के सर्वोत्तम तत्त्वों के प्रति भक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण बन गया था। इससे भी अधिक, उद्देश्य के प्रति निष्ठा और उच्च जीवन बिताने की आकांक्षा ने उनके वैचारिक ढाँचे के लिए गारे-चूने का काम किया था।

ईश्वर का भय करनेवाले, विनयी और उदासीन स्वभाव के सुरेश दूसरों की टीका-टिप्पणी और कटाक्षों की परवाह न करते।

शीघ्र ही सुरेश और उनके मित्र को आभास होने लगा कि केवल बात करना वृथा है। धर्म का जीवन में अनुभव होना चाहिए। उसी समय एक दिन सुरेश ने नवविधानवाले ब्राह्मसमाज के प्रार्थना-मन्दिर में, जहाँ वे प्रायः जाया करते थे, दक्षिणेश्वर में रहनेवाले एक अद्वितीय

सन्त के सम्बन्ध में सुना। आश्चर्य है कि यह बात उनकी स्मृति से उतर गयी और दो महीने बाद उन्होंने अपने मित्र को वह बतलायी।

दक्षिणेश्वर उस समय के ब्रिटिश राज्य की राजधानी कलकत्ते से दूर न था। वहाँ एकान्त में स्थित एक सुन्दर उद्यान में माँ भवतारिणी का मन्दिर वृक्षों से ऊँचे अपने श्वेत-धवल शिखरों के साथ शोभायमान था। उसके पश्चिम में छह-छह के समूह में द्वादश शिवमन्दिर थे तथा उत्तर की ओर राधाकान्तजी का मन्दिर स्थित था। मन्दिरों का विशाल प्रांगण चारों ओर पुष्पों की क्यारियों, हरिततृणाच्छादित मैदानों और घने जंगल से घिरा था तथा पूतसलिला पावनी गंगाजी पुष्पों से सुशोभित तट को छूती हुई बह रही थीं। इससे वह एक स्वर्गिक सौन्दर्य, माधुर्य और शान्ति का स्थान लगता था। वहाँ मनुष्य का मन, थोड़ी देर के लिए ही सही, उठकर जगत् की चिन्ताओं से मुक्त हो जाता। तीर्थयात्री उस मन्दिर में यह आशा लेकर आते कि पावनता का तनिक सा स्पर्श उनके जीवन के आध्यात्मिक दीप को भी सम्भवतः प्रज्व-लित कर दे। इससे भी अधिक आकर्षण श्रीरामकृष्ण का था, जो मन्दिर अहाते के वायव्य कोने पर स्थित कमरे में रहते थे। कलकत्ता में यह बात फैल चुकी थी कि श्रीराम-कृष्ण मानव से कहीं कुछ अधिक हैं तथा अनेक गण्यमान्य व्यक्ति दैवीभाव से उनकी पूजा भी करने लगे थे। असीम प्रेम, गहरा तथा उदार दृष्टिकोण, पर साथ ही बालक-जैसे सरल स्वभाव के धनी श्रीरामकृष्ण एक अद्वितीय व्यक्ति थे, और निश्चय ही बहुत थोड़े लोग ही उनकी महानता को समझ सके थे। परन्तु उनको देखने से ही

तथा उनकी हर भंगिमा से मधुर करुणा और सहानुभूति झलकती और यही उनके प्रभाव के घेरे में आनेवाले लोगों के लिए दुर्निवार आकर्षण बन जाती।

श्रीरामकृष्ण के आगमन से पूर्व डेढ़ सौ वर्ष का काल भौतिकवादी यूरोपीय सभ्यता तथा कट्टर पुरातनपन्थी निर्जीव आचार-विचार की परस्पर विपरीत लहरों के खेल के कारण घोर अन्धकार से घिरा हुआ था। ऐसे समय श्रीरामकृष्ण चौंधियाती रोशनी के स्तम्भ के रूप में प्रकट होते हैं, जिसके सामने ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज और थियोसाफिकल सोसायटी के कार्यों की चमक भी मद्धिम पड़ जाती है। सभी प्रमुख धर्म-मतों की सच्चाई को अनुभूति द्वारा परखकर श्रीरामकृष्ण भारत के प्राचीन समग्र धार्मिक चिन्तन-प्रवाह के मूर्तिमान् विग्रह बन गये। हिन्दू धर्म के विभिन्न मतों तथा अन्य धर्मों की साधना के काल में उनका जीवन उच्च से उच्चतर आध्यात्मिक अनुभवों तथा ईश्वर के प्रति अधिकाधिक अनुराग से भरता गया। अपने समीप रहनेवाले लोगों के सुख-दुःख में वे सम्मिलित हुए, उन लोगों के साथ आनन्द मनाया, दुःखी हुए, परन्तु इस सबके बीच से वे उन सबको दिव्यता के मन्दिर की ओर ही अन्त में ले गये।

फिर वे अपनी ग्रामीण बोली में थोड़ा तुतलाते हुए जो कुछ कहते, उन उपदेशों की गहरी अर्थवत्ता की बात तो छोड़ ही दें, उनके कहने का ढंग ही श्रोताओं को मोह लेता। वे बड़े ही प्रभावी ढंग से रोज घटनेवाली घटनाओं के दृष्टान्त रखते और प्रचलित कथा-कहानियों का उपयोग करते। श्रोता तन्मय होकर उनके प्रत्येक शब्द का पान करने के लिए आतुर रहते। सर्वोपरि, उनकी दिव्य उप-

स्थिति प्रत्येक पर शान्ति और आनन्द की किरणें विकिरित करतीं। उनकी कृपालु आत्मा लोगों के दग्ध हृदयों को शान्त करती और हताश मनों में शक्ति का संचार करती।

जैसे ही दुर्गाचरण ने सुरेश के मुख से दक्षिणेश्वर के सन्त के बारे में सुना, उन्होंने उसी समय उनके दर्शन को चलने के लिए उन पर जोर डाला। अतएव दोनों सुबह के भोजन के उपरान्त दक्षिणेश्वर के लिए रवाना हो गये। यह अप्रैल १८८२ के किसी समय की घटना होगी।

तपती धूप में काफी लम्बी दूरी तय कर लेने पर उन्हें पता लगा कि वे लोग दक्षिणेश्वर ग्राम पीछे छोड़ आये हैं। काफी लौटने पर वे लगभग दो बजे दिन को दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर पहुँचे। सन्त का निवास ढूँढ़ते ढूँढ़ते वे एक लम्बी दाढ़ीवाले व्यक्ति के सम्पर्क में आये, जो विनोद में जटिला-कुटिला कहलाता था। वह श्रीरामकृष्ण के कमरे के पूरबवाले दरवाजे के सामने बैठा था। उसका नाम था प्रतापचन्द्र हाजरा। हाजरा ने आगन्तुकों[२] को निरुत्साहित करने के उद्देश्य से झूठमूठ कह दिया कि श्रीरामकृष्ण बाहर गये हैं इसलिए वे लोग बाद में किसी दूसरे दिन

२. दुर्गाचरण नाग के निकट के परिचित शरत्चन्द्र चक्रवर्ती के अनुसार प्रताप चन्द्र हाजरा चुप रहे और कोई जवाब नहीं दिया (शरत्चन्द्र चक्रवर्ती: 'नाग महाशय' बँगला, उद्बोधन कार्यालय, भा० ७, अंक ९, पृ. २७०)। अक्षय कुमार सेन की 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पँथि' (नवम संस्करण) पृ. ३०२ के अनुसार श्रीरामकृष्ण प्रताप से उस समय वार्तालाप कर रहे थे।

आवें।[३] निराश होकर वे लोग लौट ही रहे थे कि उन्होंने देखा खुले दरवाजे के भीतर से कोई उन्हें भीतर आने के लिए इशारा कर रहे हैं। दाढ़ीवाले व्यक्ति की बगल से भीतर प्रवेश कर उन्होंने उस अद्भुत व्यक्तित्व का दर्शन किया। जीवन में पहली बार ऐसा विलक्षण व्यक्तित्व उन्हें दिखा था। वे छोटे तखत पर उत्तर की ओर मुख किये पैरों को झुलाये हुए बैठे थे।[४] उन लोगों ने सरलता से पहचान लिया कि ये ही वे महापुरुष हैं, जिनके दर्शन के लिए वे लोग आये हैं।

जैसा कि श्रीरामकृष्ण का स्वभाव था, उन्होंने देखते ही उन लोगों का स्वागत किया। दुर्गाचरण ने तो सन्त को दण्डवत् प्रणाम किया और उनके चरणों की धूलि ली,[५] पर सुरेश ने ब्राह्मसमाजियों की तरह केवल हाथ जोड़कर नमस्कार किया। श्रीरामकृष्ण के कहने पर वे दोनों उनके समीप[६] फर्श पर बिछी चटाई पर बैठ गये।

---

३. Saint Durgacharan Nag (मद्रास : श्री रामकृष्ण मठ, तृतीय संस्करण), पृ. ४३। यद्यपि प्रताप श्रीरामकृष्ण की स्नेहपूर्ण छत्रछाया में रह रहा था, पर वह नहीं चाहता था कि कोई उनके पास आवे। आश्चर्य तो यह है कि उसे अपने इस प्रकार के व्यवहार का पश्चात्ताप भी नहीं होता था।

४. 'तत्त्वमंजरी' (बँगला) (भा. १०, अंक १, पृ. १६) में छपे विजयनाथ मजूमदार के लेख 'पूजनीय दुर्गाचरण' के अनुसार श्रीरामकृष्ण कमरे में उपस्थित भक्तों को उपदेश दे रहे थे।

५. Prabuddha Bharata, मई १९७४, पृ. २०३, फुटनोट।

६. गुरुदास बर्मन : 'श्री श्री रामकृष्ण-चरित' (बँगला), भा. १, पृ. २०८।

श्रीरामकृष्ण किसी व्यक्ति के बाहरी रूप को देखने मात्र से सन्तुष्ट नहीं होते थे, वे उसके अन्तर में झाँककर देखते थे। उन्होंने सुरेश और दुर्गाचरण के भीतर को अच्छी तरह से देखा और उनकी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को परख लिया।

कुछ परिचयात्मक जानकारी के उपरान्त श्रीरामकृष्ण साधना के सम्बन्ध में चर्चा करने लगे। चर्चा के दौरान उन्होंने कहा, "संसार में पाँकाल मछली की तरह रहो, जो कीचड़ में रहती है। संसार से अलग, निर्जन में बीच बीच में जाकर भगवान् का ध्यान करने से भगवत्प्रेम बढ़ता है। उसके बाद व्यक्ति संसार में अलिप्त रह सकता है। मछली को कीचड़ में ही रहना है, पर उसकी देह में कीचड़ नहीं लगता। ऐसा व्यक्ति गार्हस्थ्य धर्म निर्लिप्त भाव से निभा सकता है।" उन्होंने आगे जोड़ा, "संसार में निर्लिप्त होकर रहो। संसार में रहो, पर उसके होकर नहीं। बस, यह देखो कि संसार की कीच तुम्हे न लगे।"

संसार के बन्धनों और चिन्ताओं में घिरे असहाय सुरेश का आध्यात्मिक रोग उतना ही पीड़ादायक था, जितनी त्रासदायक उनकी आध्यात्मिक सहायता और मार्गदर्शन की लम्बी खोज थी। बीच बीच में होनेवाली आर्थिक कठिनाइयों और इसी प्रकार की बातों से उत्पन्न मानसिक तनाव और चिन्ता से पीड़ा बढ़ती ही जाती थी। फिर भी उन्होंने कभी संसार त्यागने की बात नहीं सोची, बल्कि धैर्यपूर्वक साहस से सभी कठिनाइयों और पीड़ाओं का सामना किया। जहाँ मानसिक तनाव से मुक्ति और शान्ति पाने की खोज उन्हें नवविधान ब्राह्मसमाज की ओर ले गयी थी, वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि वे श्रीरामकृष्ण

की ओर आध्यात्मिकता के क्षेत्र में कुछ साहसिकता की, कुछ जोखिम उठाने की प्यास के कारण अधिक आकर्षित हुए थे। वास्तव में, उन्हें ऐसे कुछ की तलाश थी, जो ज्ञान से परे है; वे उस परमतत्त्व को खोज रहे थे। लगभग अनजाने ही उन्हें लगा कि श्रीरामकृष्ण से उन्हें किसी मार्गदर्शन की चाह है। अब वे साँस रोककर श्रीरामकृष्ण के वचनों को सुन रहे थे, जिसने उनके हृदय को झकझोर दिया था। साथी दुर्गाचरण की भाँति उन्हें भी ऐसा गहराई से अहसास हो रहा था कि सन्त के उपदेश विशेषकर उन्हीं के लिए हैं। श्रीरामकृष्ण और उनके व्यवहार में ऐसा कुछ था, जिसे समझाया नहीं जा सकता था। सुरेश पर गहरा प्रभाव पड़ा था; वे सन्त के प्रति एक दुर्निवार आकर्षण का अनुभव कर रहे थे।

ऐसा लगता है कि दुर्गाचरण और भी अधिक प्रभावित हुए थे। वे सन्त की ओर मंत्रमुग्ध नेत्रों से अपलक निहार रहे थे। इस प्रकार सुरेश और उनके साथी ने काफी समय बिताया, जब तक कि सन्त की दिव्य आत्मा ने उनके भीतर भी अपना कुछ मात्रा में प्रभाव डालकर उन्हें अभिभूत न कर दिया। उस समय से सुरेश अचरज से भरकर सोचते रहते कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने उनके भीतर अद्भुत भक्ति का संचार कर दिया था।

श्रीरामकृष्ण ने उन लोगों को पंचवटी में जाकर कुछ देर ध्यान करने के लिए कहा। लगभग आधा घण्टा के बाद उन लोगों के लौटने पर श्रीरामकृष्ण उनको लेकर मन्दिर-दर्शन के लिए निकले। आगे वे थे तथा पीछे ये लोग चल रहे थे। पहले द्वादश शिवमन्दिर और फिर राधाकान्त-मन्दिर गये; तत्पश्चात् काली-मन्दिर में। काली

की प्रतिमा के सामने सुरेश ने श्रीरामकृष्ण में एक चित्ताकर्षक भावान्तर देखा। उनके भीतर गहरा भावावेश हो गया था। 'जिस प्रकार छोटा बालक माँ के आँचल के छोर को पकड़कर उसके चारों ओर चक्कर लगाता है, उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण ने काली एवं शिव की परिक्रमा कर उनको प्रणाम किया।'[७] इस दृश्य से सुरेश को आध्यात्मिक जगत् की गहराई और सच्चाई के सम्बन्ध में एक नयी दृष्टि मिली। वास्तव में, उस समय उन्हें शायद यह भान भी नहीं हुआ कि उनके धर्म सम्बन्धी सब विचार तितर-बितर हो गये हैं और यह कि जैसा उनके मित्र दुर्गाचरण ने सब देवताओं के सामने प्रणाम किया, वैसा उन्होंने नहीं किया है।

पाँच बजे[८] के आसपास उन्होंने जगन्माता का प्रसाद पाया। जब वे श्रीरामकृष्ण से विदा लेने लगे, तब उन्होंने उन लोगों को फिर से आने के लिए कहा और बोले कि इसी से परिचय घनिष्ठ होगा। श्रीरामकृष्ण ने अपनी मधुर आवाज में बार-बार उनसे जो 'फिर आना' कहा था, उसने सुरेश को मोह लिया।[९]

श्रीरामकृष्ण के निष्कपट व्यवहार और बालक-

७. स्वामी जगदीश्वरानन्द : 'सुरेशचन्द्र दत्त' Prabuddha Bharata, जून १९४८, पृ. २३२।

८. Vedanta Kesari, जून १९१८, पृ. ४५।

९. श्रीरामकृष्ण की संक्षिप्त जीवनी 'श्री श्रीरामकृष्ण लीला' में सुरेशचन्द्र लिखते हैं, "फिर, जब श्रीरामकृष्ण आगन्तुकों को विदा करते समय स्नेह से कहते, 'फिर किसी दिन जरूर आना, किसी दिन जरूर आना' तब इससे भला कौन मुग्ध न होता ?"

सुलभ सरलता में ही सम्भवतः उनके प्रति अटूट आकर्षण और खिंचाव का रहस्य छिपा था। जो हो, सुरेश पर इस यात्रा का अद्भुत प्रभाव पड़ा। मन्दिर में बहुत कुछ आकर्षक था; उससे किसी अन्य युग के अलग संसार की एक झलक मिली थी, फिर भी वह झलक बहुत कुछ उनके अपने युग की ही थी। अब सुरेश को अपने भीतर एक प्रकार की विश्रान्ति की शीतल छाँह का अनुभव होता। और इससे भी अधिक, उस यात्रा ने उन्हें अच्छी तरह से जीवन का उद्देश्य समझा दिया था तथा उनके शुष्क जीवन में कुछ स्निग्धता ला दी थी। परवर्ती काल में सुरेश ने स्वीकार किया था कि श्रीरामकृष्ण की गहरी भक्ति और असाधारण भावसमाधि ने पहली ही भेंट में उन पर अमिट छाप छोड़ दी थी।[१०]

दूसरे ही हफ्ते सुरेश अपने मित्र के साथ पुनः श्रीरामकृष्ण के पास पहुँचे। श्रीरामकृष्ण ने प्रसन्न होते हुए आनन्द से उनका स्वागत किया। वे भावसमाधि में चले गये तथा उन्होंने कहा, "तुम लोगों ने यहाँ आकर अच्छा किया। मैं तुम लोगों की बाट ही जोह रहा था।"[११] उनकी सलाह पर उन लोगों ने उस दिन भी कुछ समय पंचवटी में ध्यान करते हुए बिताया। सुरेश के अकेले रहने पर श्रीरामकृष्ण ने कहा, "वह (दुर्गाचरण) सचमुच धधकती हुई ज्वाला है।" इससे सुरेश में अपने मित्र के प्रति गहरी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी।

१०. स्वामी जगदीश्वरानन्द : 'भक्त सुरेशचन्द्र दत्त', उद्बोधन (बँगला मासिक), भा. ५०, अंक ८, पृ. ४२२।

११. Saint Durgacharan Nag., पृ. ४८।

परन्तु सुरेश दक्षिणेश्वर जाने के लिए कभी-कभी ही समय निकाल पाते थे। यद्यपि उनकी तार्किक बुद्धि श्रीरामकृष्ण से सहज में ही प्राप्त प्रेम के द्वारा रँग गयी थी, पर सुरेश का ऐसा विश्वास जम गया था कि बिना जीवन को सरल बनाये ईश्वर की ओर अभिमुख नहीं हुआ जा सकता। इसलिए अब वे नैतिक जीवन को दृढ़ बनाने पर जोर देने लगे। सुरेश और दुर्गाचरण श्रीरामकृष्ण के उपदेश को केन्द्र कर अधिक से अधिक समय धार्मिक चर्चा में व्यतीत करने लगे। सुरेश की आध्यात्मिक अनुभव के प्रति बढ़ती रुचि देख दुर्गाचरण ने उन्हें किसी योग्य गुरु से दीक्षा लेने के लिए कहा। ब्राह्म-मत से अनुप्राणित सुरेश इस विचार को ग्रहण नहीं कर पा रहे थे। तब श्रीरामकृष्ण से इस सम्बन्ध में प्रामाणिकतापूर्वक जानने के लिए वे दोनों उनके पास गये। श्रीरामकृष्ण ने उन लोगों को आध्यात्मिक दीक्षा की आवश्यकता समझायी। सुरेश ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "मुझे मंत्रों में अथवा भगवान् के साकार रूप पर कोई विश्वास नहीं है।" इस पर श्रीरामकृष्ण बोले, "ठीक है, तुम अभी दीक्षा मत लो। बाद में जब इसकी आवश्यकता पर तुम्हारा विश्वास हो जाएगा तब समयानुसार तुम्हारी दीक्षा हो जाएगी।"[१२]

एक अन्य दिन सुरेश ने श्रीरामकृष्ण को कहते हुए सुना, "जिस प्रकार बारह बजे मिनट का काँटा घण्टे के काँटे से एक हो जाता है, उसी प्रकार मेरा मन भी सब

१२. स्वामी गम्भीरानन्द: 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका' (रामकृष्ण मठ, नागपुर) भा. २, प्रथम सं., पृ. ४०२।

समय ईश्वर के साथ एक होने के लिए तत्पर रहता है। पर चूँकि मैंने मानव के कल्याण के लिए अपने आपको यहाँ रखा है इसलिए जोर डालकर मैं मन को संसार के धरातल पर उतारकर रखता हूँ।"[१३]

सुरेश की अच्छी ही नौकरी थी। पर जब उनके मित्र दुर्गाचरण ने अपनी होमियोपैथी की चिकित्सा बन्द कर पूरी तरह अपने आपको आध्यात्मिक साधना में लगा दिया, तो उन्होंने स्वयं भी अपनी नौकरी छोड़ दी।[१४] यह शायद पहला अवसर था, जब उन्होंने नौकरी छोड़ी थी। (अगले अंक में समाप्य)

○

दाद को खुजलाते समय तो आराम मालूम होता है, पर बाद में उस जगह असह्य जलन होने लगती है। संसार के भोग भी ऐसे ही हैं—शुरू-शुरू में तो वे बड़े ही सुखप्रद मालूम होते हैं, परन्तु बाद में उनका परिणाम अत्यन्त भयंकर और दुःखमय होता है।

—श्रीरामकृष्ण

१३. सुरेशचन्द्र दत्त : 'श्री श्री रामकृष्ण लीला', 'श्री श्री रामकृष्ण-देवेर उपदेश' (बँगला) (कलकत्ता : हरमोहन पब्लिशिंग एजेंसी, २८वाँ संस्करण), पृ. १९।

१४. महेन्द्रनाथ दत्त : 'श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली' (बँगला) (कलकत्ता : महेन्द्र पब्लिशिंग कमिटी, तृतीय संस्करण), भा. १, पृ. १४६।

माँ के सान्निध्य में (८)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र नारायणपुर के संचालक हैं।—स०)

उद्बोधन: २६-११-१९१०, सुबह ७ बजे

पिछले दिन माँ गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) को देखने गयी थीं। वे बीमार थे। वशी और टाबू उनकी बड़ी सेवा कर रहे थे। माँ उसी का उल्लेख कर हम लोगों से उनकी प्रशंसा कर रही थीं, "वे लोग ही साधु हैं, वे लोग ही धन्य हैं! साधु और कौन है?

"योगीन चाटुज्ये (नित्यानन्द स्वामी) की भी उसके लड़कों (शिष्यों) ने बड़ी सेवा की थी। वे सब पूर्व बंग के थे। काशीपुर में सब लड़के ठाकुर की सेवा करते थे। वे (ठाकुर) उन्हें तरह तरह की बातों से आनन्द में रखते थे। वे कहते थे, 'थोड़ा बहुत आनन्द नहीं मिलने से वे लोग कैसे रहेंगे?' वे सबका मन समझकर चलते थे। उनकी सेवा की वैसी आवश्यकता नहीं थी। कहीं दस-बारह दिन में थोड़ा बहुत पाखाना होता था। पर रात में जागना पड़ता था। भोजन तो कोई अधिक था नहीं—थोड़ी सी सूजी, वह भी भूँजकर देनी पड़ती थी। एक दिन उन्हें आँवला खाने की इच्छा हुई। तब अकाल का समय था। दुर्गाचरण (नाग महाशय) तीन दिन बाद दो-तीन आँवले लेकर आया। अच्छे बड़े आँवले थे। तीन दिनों से उसका खाना-पीना ही नहीं हुआ था। ठाकुर हाथ में आँवला लेकर रो पड़े। कहने लगे, 'मैंने सोचा, तुम शायद ढाका

चले गये।' और मुझसे बोले, 'मिर्च डालकर एक तरकारी बना दो। वे लोग पूर्व बंग के हैं, मिर्च बहुत खाते हैं।' बाकी सब पक गया था। उन्होंने कहा, 'एक थाली में सब सजा दो। वह प्रसाद नहीं होने से खाएगा नहीं।' ठाकुर उसे प्रसाद करने के लिए बैठे। उस सबके साथ उन्होंने थोड़ा सा भात खाया। तब कहीं दुर्गाचरण ने प्रसाद पाया। उस समय काशीपुर उद्यानवाटी में बहुत खर्च होता था। तीन तीन रसोई बनती थी—एक ठाकुर के लिए, दूसरी नरेन आदि के लिए और तीसरी, बाकी सबके लिए। रुपयों के लिए चन्दा किया गया। एक व्यक्ति चन्दे के डर से भाग ही गया।

"पाप को ग्रहण करने के कारण उनके शरीर में रोग हुआ था। वे कहते थे, 'यह गिरीश के पाप के कारण है। वह यह सब कष्ट सह न पाता।' उनकी तो इच्छा-मृत्यु थी। समाधि के द्वारा अनायास ही देहत्याग कर सकते थे। वे कहते, 'अहा, यदि इन (लड़के) लोगों को एक डोर में गूँथ पाता।' इतने दिनों तक तो बातचीत ऐसी ही चलती थी—'नरेन बाबू, कैसे हैं?' कोई कहता, 'राखाल बाबू, कैसे हैं?' सब इसी प्रकार चल रहा था। इसीलिए इतना कष्ट होने पर भी उन्होंने शरीर नहीं छोड़ा।"

उद्बोधन, ठाकुरघर : १४।४।१९११, सुबह का समय

" रोज ठाकुरपूजा के लिए जो फूल आता था वह लेकर मैं ऊपर गया। समय अधिक हो चुका था इसलिए माँ ने कहा था, "फूल जब आये, दे जाना।" माँ स्वयं पूजा की सारी व्यवस्था करतीं और पूजा करती थीं। हाथ के इशारे से उन्होंने मुझे पास बुलाया। माँ तख्त के ऊपर

बैठी थीं। वे एक भक्त के बारे में पूछने लगीं।

माँ—वह नीचे है ?

मैं—हाँ ?

माँ—क्या करता है ? कुछ पढ़ता-लिखता है ?

मैं—बीच बीच में शायद पढ़ता है।

माँ—मठ में जाएगा नहीं ?

मैं—नहीं, उसकी जाने की इच्छा नहीं है।

माँ—तुम लोग उसे समझा-बुझाकर कहना।

मैं—मैंने तो बहुत कहा है, अब तुम्हीं कहो, जिससे वह मठ जाकर दो-चार दिन रहे।

माँ—बेटा, मैंने भी बहुत कहा है। मेरे कहने से भी वह नहीं सुनेगा। मठ में जाने से लोग उसकी हँसी उड़ाएँगे इसीलिए वह किसी प्रकार जाना नहीं चाहता। शरत् ने मुझसे कितना कहा है, 'उसे क्या महाराज की बात, हम लोगों की बात जरा भी नहीं सुननी चाहिए ? मठ में जाकर कम से कम वहाँ दो दिन रहकर महाराज की बात मानकर आए।' ठीक तो है, राखाल के साथ जाकर पुरी में कुछ दिन रहे न। अकेला कहाँ जाएगा ? खाना कहाँ से जुटेगा ?

मैं—खाने की कोई बात नहीं है, भिक्षा माँगकर खाएगा। किन्तु जब महाराज और अन्य गुरुजनों ने कहा है तो उनकी बात रखने के लिए उसका एक बार जाना उचित है।

माँ—हाँ, ठीक कहते हो, गुरुजनों की बात है। उसकी काम करने की ही इच्छा नहीं है। काम नहीं करने से क्या मन ठीक रहता है ? चौबीस घण्टे क्या ध्यान-चिन्तन हो सकता है ? इसीलिए काम लेकर रहना होता

है, उससे मन अच्छा रहता है। यहाँ तुम लोगों का काम-काज कैसा चल रहा है ?

मैं—ठीक ही चल रहा है।

माँ—तुमने रामेश्वर जाने की बात लिखी थी। बेटा, नहीं गये अच्छा ही किया, रास्ते में इतना उतरना-चढ़ना जो पड़ता है।

मैं—शरत् महाराज ने कोशिश की थी। पर इतना रुपया-पैसा कहाँ से जुटता ? जाने से शशि महाराज के ऊपर ही खर्चे का भार पड़ता।

माँ—हाँ, हम लोगों की ही यात्रा पर शशि का हजार रुपया खर्च हुआ है।

दूसरे दिन माँ ठाकुरघर के दक्षिण की ओर के कमरे में पान बना रही थीं। ग्यारह बजे का समय होगा। मैं ऊपर गया। माँ ने पूर्वोक्त भक्त के बारे में पूछा, "वह चला गया ?"

मैं—हाँ, काँजीलाल के यहाँ आज रहेगा। हो सकता है, कल भी रहे। शरत् महाराज ने कहा है, 'यदि वह अभिमान-अहंकार करके गया होगा तो दिन-दिन और भी खराब होगा, किन्तु यदि लज्जित हो, कैसे मुँह दिखाऊँ यह सोचकर गया हो तो हो सकता है, ठाकुर की कृपा से उसके जीवन की दिशा बदल जाय और वह अच्छा हो जाय।'

माँ—भला हुआ ही क्या है ? वह लड़का है, लड़की तो नहीं ? . . .तोड़ना सभी जानते हैं, पर बना कितने लोग पाते हैं ? निन्दा-उपहास तो सभी कर सकते हैं, किन्तु उसे अच्छा भला कितने लोग बना सकते हैं ? मनुष्य

में दुर्बलता तो है ही ।...

मैं—शरत् महाराज ने कहा, 'उन्नत मनवाला होने से ही अकेले रहना सम्भव है, नहीं तो जिसके मन में दोष है वह यदि अकेला रहे तो उससे उसकी और भी अधोगति होती है।'

माँ—डर की क्या बात है ? ठाकुर रक्षा करेंगे । कितने ही साधु क्या अकेले नहीं रहते ?

मैं—हृदय मुखर्जी* भी तो अन्त में ठाकुर के संग से वंचित हो गया था ।

माँ—अच्छी वस्तु का आनन्द क्या कोई हमेशा के लिए ले सकता है ?

मैं—सुना है उन्होंने ठाकुर को बहुत कष्ट भी दिया था, गाली-गलौज भी की थी ।

माँ—जिसने इतनी सेवा-शुश्रूषा की, वह क्या थोड़ी बहुत डाँट-डपट नहीं करेगा ? जो सेवा करता है, वही ऐसा बोल सकता है ।

जयरामवाटी

एक बार आश्विन के महीने में दुर्गापूजा की सप्तमी के दिन दो युवक भक्त श्री माँ के पास जयरामवाटी में उपस्थित हुए । अष्टमी के दिन उन्होंने कमल फूल एकत्रित करके माँ के चरणों में अंजलि दी । उसके बाद एक ने कहा, "माँ, मुझे संन्यास दो ।" दूसरे ने भी हाँ में हाँ मिलायी । माँ ने जरा अस्वाभाविक दृष्टि से हँसकर कहा, "सब होगा, बेटे, इतनी चिन्ता क्यों ?" भक्त ने फिर जिद करके कहा, "पर संन्यास देना ही होगा, माँ ।

*ठाकुर के भानजे और सेवक हृदयराम ।

हम लोगों को गेरुआ दे दो ।" इस बार माँ ने कुछ गम्भीर भाव से ही कहा, "गेरुआ से क्या होगा, बेटे ? गेरुआ में क्या रखा है ? तुम लोगों ने विवाह तो किया नहीं है, संन्यासी तो हो ही । और जो जो आवश्यकता होगी वह क्रमशः पूरी हो जाएगी ।" भक्त ने फिर कहा, "माँ, मेरी इच्छा होती है कि जनेऊ, कपड़े आदि सब फेंककर तैलंग स्वामी के समान सदा भगवच्चिन्तन में मग्न होकर रहूँ ।" माँ ने हँसकर कहा, "होगा बेटे, होगा ।" इस बार भक्त जरा अस्थिर हो कहने लगा, "तो माँ, मैं फेंक देता हूँ, जनेऊ-कपड़े सब फेंक देता हूँ ।" इतना कहकर वह कार्यरूप में उसे परिणत करने जा ही रहा था कि माँ कुछ उद्विग्न होकर बोलीं, "रहने दो, रहने दो, समय होने पर सब आप ही खिसक जाएगा ।"

फिर भी उसकी जिद का अन्त न था । कहता था, "माँ, ठाकुर के पागलपन की एक बूँद मुझे दे दो, मुझे पागल बना दो ।" फिर कहता, "माँ, भक्ति-वक्ति कुछ भी देती नहीं हो, क्या ठाकुर का दर्शन नहीं कराओगी ?" माँ ने कहा, "होगा, बेटे, सब होगा ।" फिर दोनों प्रणाम कर बाहर चले गये ।

दोपहर में सभी प्रसाद पा रहे थे । खीर खाकर भक्त बोल उठा, "यह कैसी खीर बनायी है ? कुछ भी अच्छी नहीं हुई ।" माँ ने हँसकर कहा, "क्या करूँ, बेटे, यहाँ तो वैसा दूध मिलता नहीं ।" केदार की माँ पास थीं, बोलीं, "ठीक है, बेटा, तुम सब बेटे लोग तो हो, सब सामान ले आना, माँ अच्छी तरह से खिलाएँगी ।" यह बात उसके कानों में गयी नहीं । उसने कहा, "माँ, इस बार खाने से पेट भरा नहीं । फिर से आकर पेट भरकर

खाकर जाएँगे । 'उद्‌बोधन' में मुझे फिर एक बार दर्शन देना ।" इस पर माँ ने अपनी सहमति जतायी ।

सबेरे शिलाँग से एक भक्त आया । श्री माँ के अवतारत्व के सम्बन्ध में अपना सन्देह दूर करने के लिए उसने प्रण किया था कि जब तक सात बार उसे स्वप्न में श्री माँ के दर्शन नहीं हो जाते, वह उनके दर्शनों को नहीं जाएगा । माँ की कृपा से उसे सात बार स्वप्न में दर्शन हुए इसलिए वह इस बार आया है । शाम को विदा लेने से पूर्व उसने माँ को प्रणाम करके कहा, "माँ, तो मैं चलूँ ? क्या और कुछ आवश्यक है ?"

माँ—हाँ बेटा, अवश्य है । दीक्षा लेकर ही जाओ ।

भक्त—वह तो बागबाजार में हो जाएगी ।

माँ—नहीं, बेटा, वह हो ही जाय, आज ही हो जाय ।

भक्त—पर प्रसाद जो पा लिया है ?

माँ—उससे दोष नहीं होगा ।

उसके बाद दीक्षा लेकर वह विदा हुआ ।

जयरामवाटी से घर लौटने पर पूर्वोक्त पगले भक्त के मनोभाव में क्रमशः बहुत उग्रता आ गयी । ठाकुर के दर्शन के लिए वह व्यग्र हो उठा । श्री माँ इच्छामात्र से ही ठाकुर का दर्शन करा दे सकती हैं पर करा नहीं रही हैं—यह सोचकर उसके मन में बड़ा मान जग गया । अत्यन्त खिन्न हो वह फिर से जयरामवाटी आया और माँ से बोला, "माँ, ठाकुर का दर्शन कराओगी या नहीं ?" माँ ने स्नेह भरे स्वर में कहा, "होगा, बेटा, इतना चंचल क्यों होते हो ?"

किन्तु उसे और सहन नहीं हुआ । गुस्से में भरकर

बोला, "केवल बहाना बनाती हो? यह लो तुम्हारी जप की माला। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।" यह कहकर उसने जप की माला माँ की ओर फेंक दी। माँ ने कहा, "अच्छा, ठीक है, ठाकुर की सन्तान बने रहो।" किन्तु वह रुका नहीं, चला गया।

इसके बाद वह भक्त पूरी तरह से पागल हो गया। वह मठ के सब संन्यासियों को गाली देकर पत्र लिखता। श्री माँ को भी कटूक्ति करके पत्र देता। अपने तरह तरह के उपद्रवों के कारण उसने मार भी खायी थी।

इस भक्त के सम्बन्ध में मैंने माँ से पूछा था, "माँ, क्या उसने मन्त्र को भी वापस कर दिया? माला तो फेंक ही दी थी। क्या कभी वह मन्त्र को भी वापस कर सकता है?"

माँ—ऐसा क्या कभी हो सकता है? यह सजीव मन्त्र है। वह क्या वापस होता है? जो मन्त्र उसे एक बार मिला है, वह महामन्त्र है। जिन (गुरु) के प्रति उसे एक बार प्रेम हुआ है, वह क्या कभी दूर हो सकता है? किसी न किसी दिन जब वह स्वस्थ होगा तब तो इन सब के वह पैर पड़ेगा।

मैं—माँ, ऐसा क्यों होता है?

माँ—ऐसा हो जाता है। एक गुरु ही कितने लोगों को मन्त्र देते हैं, पर सब क्या समान होते हैं? जो जैसा आधार होता है, उसमें वैसा विकास होता है। जयरामवाटी में उसने कहा था, 'माँ, मुझे पागल बना दो।' मैंने कहा, 'पागल क्यों होगे? बहुत से पाप किये बिना क्या कोई पागल होता है?' वह कहता था, 'मेरे छोटे भाई ने ठाकुर का दर्शन किया है, मुझे भी करा दो।' मैंने

कहा, 'खुली आँखों से क्या कभी किसी ने ईश्वर को देखा है ? हाँ, पर बन्द आँखों से देख सकता है। आँखें बन्द रहने से क्या चित्र ख्याल में नहीं आता ? तुम्हारा छोटा भाई बच्चा ही तो ठहरा। हो सकता है चित्र देखकर सोच रहा है कि उसने ठाकुर को देखा है। तुम भी साधन-भजन करो, उनसे प्रार्थना करो, तो तुम्हें भी दर्शन होगा।' मनुष्य खुद ही जान सकता है कि वह कितना आगे बढ़ा है, उसे कितना ज्ञान-चैतन्य हुआ है। वह भीतर ही भीतर समझ सकता है कि उसे कितना ईश्वर-लाभ हुआ है। नहीं तो खुली आँखों से भला किसने उन्हें देखा है ?"

उद्‌बोधन में डाँट खाकर वह भक्त बागबाजार में गंगा के किनारे पड़ा रहता। अथवा कभी उद्‌बोधन के चबूतरे पर बैठा रहता। जब आता, दोपहर में चबूतरे पर बैठकर थोड़ा बहुत खाकर जाता। इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर उसे तरह तरह से समझा-बुझाकर श्री माँ की अनुमति से उसे उद्‌बोधन में उनके पास लाया गया। माँ उसे समझाने लगीं, "ठाकुर कहते थे, 'जो मुझे पुकारेंगे, उनके लिए अन्तिम समय में मुझे आना होगा।' यह उनके स्वयं के मुख से कही बात है। तुम मेरे बेटे हो, किस बात का डर है ? तुम क्यों इस तरह पागल बनकर रहोगे ? इससे तो उनकी बदनामी होगी। लोग कहेंगे, 'उनका भक्त पागल हो गया है।' तुम्हारा क्या ऐसा कुछ करना उचित है जिससे उनकी बदनामी हो ? जाओ, घर जाओ और जैसे दस लोग रहते हैं, वैसे ही खाओ, पियो और रहो। जब तुम्हारा अन्तिम समय आएगा, तब वे तुम्हें दर्शन देकर ले जाएँगे। उन्हें किसने प्रत्यक्ष

देखा है, बोलो तो सही। एक नरेन ने उन्हें देखा था। वह भी तब, जब वह बहुत व्याकुल था, उस देश (अमेरिका) में। तब वह अनुभव करता कि वे (ठाकुर) उसका हाथ पकड़े हुए हैं। पर यह भी कुछ ही दिनों तक था। अच्छा है, जाओ, घर जाकर रहो। संसारी लोगों को कितना कष्ट है! देखो न, उस दिन राम का लड़का मर गया। तुम लोग सोकर, निश्चिन्त रूप से साँस लेकर बचे रहोगे।" फिर बोलीं, "मैं उस दिन पूजा कर रही थी। पूजा करते करते इसका चेहरा देखा—गोपाल के जैसे इसके छितरे हुए बाल। उसी दिन कुछ देर बाद ही यह आकर उपस्थित हो गया।"

दिखा कि माँ के इन उपदेशों और सान्त्वना-भरे शब्दों से भक्त को कुछ शान्ति मिली। उस दिन प्रसाद पाकर वह अपने गाँव लौट गया। घर जाकर धीरे धीरे वह पूरी तरह स्वस्थ हो गया था।

○

विवेकानन्द जयन्ती समारोह–१९८७

तथा

श्रीरामकृष्णदेव की सार्ध शताब्दी

एवं

रामकृष्ण संघ की शताब्दी

का

समापन उत्सव

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी का १२५ वाँ जयन्ती-महोत्सव तथा **श्रीरामकृष्णदेव की सार्ध शताब्दी एवं रामकृष्ण संघ की शताब्दी का समापन समारोह** आश्रम के प्रांगण में शनिवार, ३ जनवरी १९८७ से लेकर रविवार १५ फरवरी १९८७ तक पृष्ठांकित कार्यक्रम के अनुसार मनाया जा रहा है। समारोह का उद्घाटन शनिवार, २४ जनवरी १९८७ को सायंकाल ७ बजे सम्पन्न होगा।

का र्य क्र म

गुरुवार, २२ जनवरी

स्वामी विवेकानन्द जन्म-तिथि उत्सव

मंगल आरती, प्रातःवन्दना और ध्यान
(प्रातःकाल ५। से ६।। बजे तक)

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती
(प्रातःकाल ७।। से १२ बजे तक)

सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन
(सायंकाल ६ से ७।। बजे तक)

□

शनिवार, ३ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :—"विवेकानन्द का तरुणाई को आह्वान"

□

रविवार, ४ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :—"इस सदन की राय में छात्रों की दिशाहीनता के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षाप्रणाली का अभाव कहीं अधिक जिम्मेदार है।"

□

सोमवार, ५ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

□

मंगलवार, ६ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :—"इस सदन की राय में आज की युवा पीढ़ी देश की बागडोर सम्हालने में पूरी तरह सक्षम है।"

□

बुधवार, ७ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :—"यदि स्वामी विवेकानन्द मेरे शिक्षक होते"

□

गुरुवार, ८ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

□

शुक्रवार, ९ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :—"इस सदन की राय में भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए कानून नहीं, डण्डे की जरूरत है।"

□

शनिवार, १० जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :—"मुझे विवेकानन्द प्रिय क्यों हैं ?"

□

रविवार, ११ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तःप्राथमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(रनिंग कप)

□

सोमवार, १२ जनवरी प्रातःकाल ९ बजे

राष्ट्रीय युवा दिवस

शोभायात्रा, आश्रम में जनसभा एवं

स्वामी विवेकानन्द के प्रति युवाशक्ति की श्रद्धांजलियाँ

□

शनिवार, २४ जनवरी सायंकाल ७ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

मुख्य अतिथि : महामण्डलेश्वर १००८ श्री
स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि जी महाराज
(संस्थापक, भारतमाता मन्दिर, हरिद्वार)

विषय : "रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा और विश्व पर उसका प्रभाव"

□

२५ जनवरी से २७ जनवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

महामण्डलेश्वर १००८ श्री स्वामी सत्यमित्रानन्दजी महाराज के प्रवचन

अध्यक्ष : स्वामी आत्मानन्द

विषय : २५–१–८७ को "गीता का अमर संदेश"
२६–१–८७ को "भारत और भारतीयता"
२७–१–८७ को "विज्ञान और धर्म"

□

२८ जनवरी से ३१ जनवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : श्री राजेश रामायणी

□

१ फरवरी से ३ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की सार्ध शताब्दी

एवं

रामकृष्ण संघ की शताब्दी

का समापन महोत्सव

वक्तागण : रामकृष्ण मठ एवं मिशन के विद्वान् संन्यासीगण

एवं

अन्य प्रतिष्ठित विद्वज्जन

□

४ फरवरी से १५ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

रामायण-प्रवचन

प्रवचनकार : पण्डित रामकिंकरजी महाराज

□ □ □

श्री माँ सारदा देवी का १३४वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा मंगलवार, २३ दिसम्बर १९८६

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगलारती, प्रातःवन्दना और ध्यान ... प्रातः ५। से ६।। बजे

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती ... प्रातः ७।। से १२ बजे

सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन ... सायं ६ से ७।। बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्संग भवन में)

रविवार, २८ दिसम्बर १९८६ सन्ध्या ५ बजे से

□ □

श्रीरामकृष्णदेव का १५२वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा रविवार, १ मार्च १९८७

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगलारती, प्रातःवन्दना और ध्यान ... प्रातः ५। से ६।। बजे
विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती ... प्रातः ७।। से १२ बजे
सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन ... सायं ७ से ८।। बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्संग भवन में)

रविवार, ८ मार्च १९८७ सन्ध्या ५।। बजे से

□ □ □